क्षयोपशम भाव चर्चा

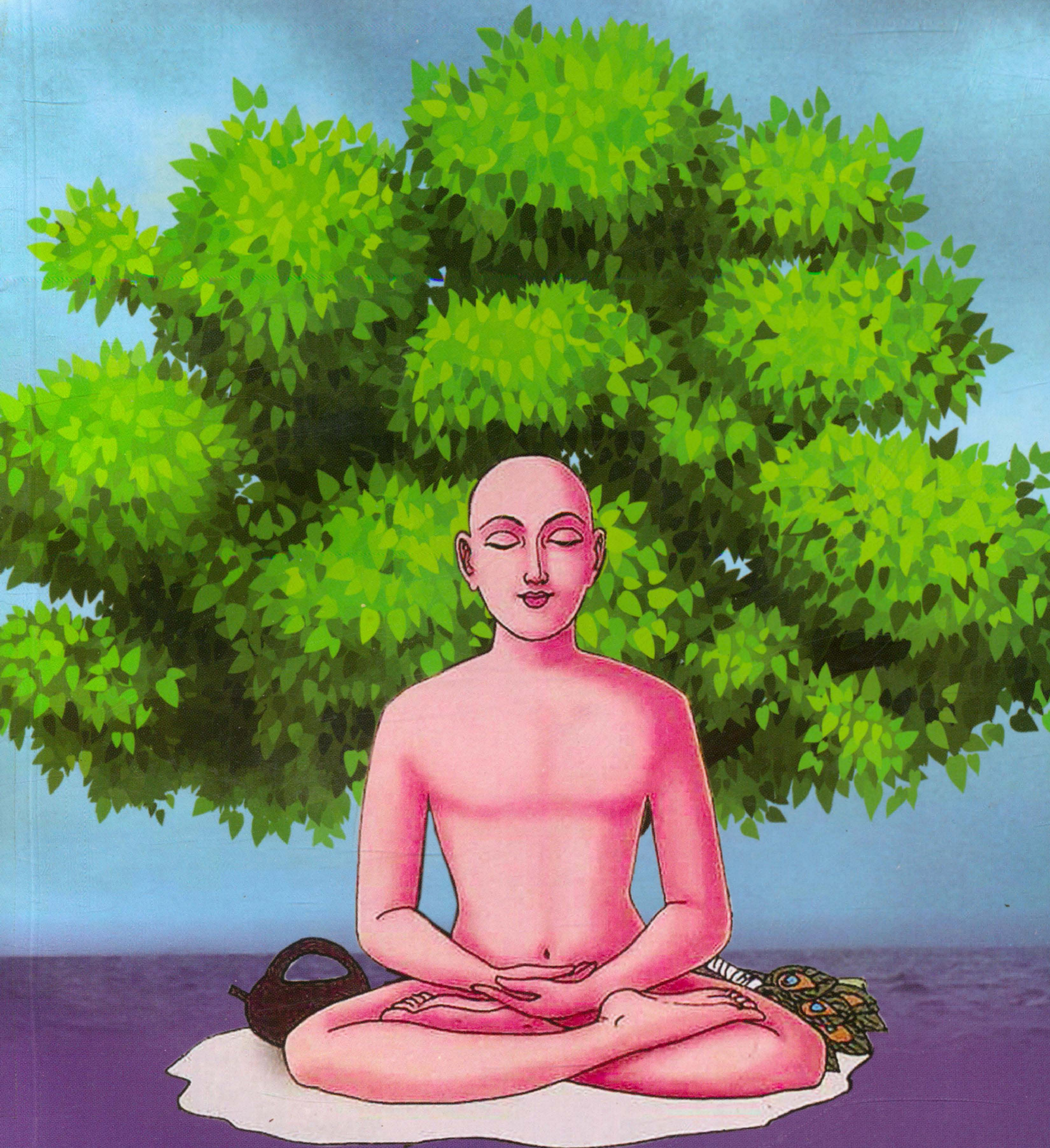

ओदइया बंधयरा, उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ, करणोभय-वज्जिओ होंति।।

अर्थात् औदयिकभाव बन्ध करनेवाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्ष के कारण हैं तथा पारिणामिकभाव, बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं। (- धवला, पु. 7/9)

– ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'

॥ ॐ ॥

आगम-अध्यात्म के आलोक में

क्षयोपशम भाव चर्चा

प्रस्तोता

ब्र. पण्डित हेमचन्द जैन 'हेम'

रिटायर्ड सीनियर मैनेजर, स्टीम टर्बाइन, देवलाली

सम्पादक :

डॉ. राकेश जैन शास्त्री

जैनदर्शनाचार्य, नागपुर

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट

129, जादौन नगर, 'बी' दुर्गापुरा, जयपुर 302018

फोन : (0141) 2722274, मो. 09929655786

प्रथम संस्करण : मार्च 2008

सम्यक् तत्त्वचर्चा विशेषांक

(धर्ममंगल मासिक)

द्वितीय संवर्द्धित संस्करण : 21 मई 2017

आगम-अध्यात्म के आलोक में :

क्षयोपशम भाव चर्चा

मूल्य : **तीस रुपये**

प्राप्ति स्थान :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर

जयपुर-३०२०१५

मुद्रक :

सन् एन सन् ऑफसेट

तिलकनगर

जयपुर

विद्वत्परिषद् के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. अध्यात्म बारहखड़ी
२. मंगलतीर्थ यात्रा
३. चतुर चितारणी
४. इष्टोपदेश
५. ज्ञानामृत
६. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन
७. जैन जाति नहीं धर्म है
८. श्रावकाचार : दिशा और दृष्टि
९. शुद्धोपयोग विवेचन
१०. बसंततिलका
११. क्षत्रचूड़ामणि
१२. प्रतिबोध
१३. सिद्धलोक एवं सिद्धत्व साधना के सूत्र
१४. समाधि साधना और सिद्धि
१५. छहढाला का सार
१६. चलते फिरते सिद्धों से गुरु
१७. ज्ञानानन्द श्रावकाचार
१८. सर्वार्थसिद्धि वचनिका
१९. कालचक्र
२०. भ. महावीर जन्मभूमि का सच
२१. स्मारिका
२२. क्षमावाणी
२३. आत्मा ही परमात्मा है
२४. आप्त-परीक्षा
२५. सम्यक्त्व चर्चा
२६. क्षयोपशम भाव चर्चा

अनुक्रमणिका

१. **प्रकाशकीय** : अखिल बंसल, जयपुर		iv
२. **सम्पादकीय** : डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर		1
३. **अन्तर की बात** : सौ.लीलावती जैन		3
४. **प्रस्तावना** : डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर		9
५. **मंगलाचरणस्वरूप पत्र** : ब्र. हेमचन्द जैन		60
६. **सच्चे परीक्षा-प्रधानी बनो!** : ब्र. हेमचन्द जैन		65
७. प्रथम चर्चा : ब्र.श्री हेमचन्द जैन		
	आचार्यश्री विद्यासागरजी के साथ चर्चा	71
८. द्वितीय चर्चा : ब्र. हेमचन्द जैन		
	क्षायोपशमिकभाव : आगम-प्रमाण	75
९. तृतीय चर्चा : ब्र. हेमचन्द जैन		89
	सम्यक् क्षायोपशमिक भाव चर्चा	
१०. चतुर्थ चर्चा : ब्र. हेमचन्द जैन		
	आगम के आलोक में :	
	क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन एवं चारित्र	100
११. पंचम चर्चा : ब्र. हेमचन्द जैन		
	धवलादि ग्रन्थों में :	
	क्षयोपशम भाव का स्वरूप	117
१२. षष्ठम चर्चा : ब्र. हेमचन्द जैन		
	श्री प्रवचनसार पर आधारित	
	शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग की सम्यक् चर्चा	124
१३. सप्तम चर्चा : ब्र. हेमचन्द जैन		
	शुभोपयोग से पुण्यबन्ध चर्चा	150
१४. अष्टम चर्चा : ब्र. हेमचन्द जैन		
	सम्यक् पात्र-अपात्र-कुपात्र चर्चा	151
१५. नवम चर्चा : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री		
	अकषाय भाव ही सच्चा धर्म	167

प्रकाशकीय

श्री अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट की ओर से ब्र. हेमचन्दजी 'हेम' की महत्वपूर्ण कृति 'क्षयोपशमभाव चर्चा' का प्रकाशन करते हुये हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पुस्तक की विषयवस्तु के संबंध में डॉ. राकेशजी ने प्रस्तावना तथा सम्पादकीय में सभी कुछ स्पष्ट कर दिया है, मुझे कुछ भी कहना शेष नहीं रहा। रही–सही कसर अन्तर की बात में लीलावतीजी ने भी उद्घाटित कर दी है।

अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् ने ब्र. हेमचन्दजी 'हेम' की छह महत्वपूर्ण कृतियों के प्रकाशन का निर्णय लिया है; जिसमें से सम्यक्त्व चर्चा एवं क्षयोपशमभाव चर्चा प्रकाशित हो गई हैं। इसका संयुक्त स्वरूप 'ज्ञानदीप' के रूप में प्रकाशित करने की योजना है।

अभी तक विद्वत्परिषद् द्वारा २६ पुस्तकों का प्रकाशन किया गया है जो निम्न है – अध्यात्म बारहखड़ी, मंगलतीर्थ यात्रा, चतुर चितारणी, इष्टोपदेश, ज्ञानामृत, क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन, जैन जाति नहीं धर्म है, श्रावकाचार : दिशा और दृष्टि, शुद्धोपयोग विवेचन, बसंततिलका, क्षत्रचूड़ामणि, प्रतिबोध, सिद्धलोक एवं सिद्धत्व साधना के सूत्र, समाधि साधना और सिद्धि, छहढाला का सार, चलते फिरते सिद्धों से गुरु, ज्ञानानन्द श्रावकाचार, सर्वार्थसिद्धि वचनिका, कालचक्र, भ. महावीर जन्मभूमि का सच, स्मारिका, क्षमावाणी, आत्मा ही परमात्मा है, आप्त–परीक्षा, सम्यक्त्व चर्चा, क्षयोपशम भाव चर्चा।

प्रस्तुत प्रकाशन हेतु अमित जैन – दिल्ली, के.के.पी.पी. ट्रस्ट उज्जैन, नेमीचन्द जैन 'अर्पण' औरंगाबाद, एल.डी. शाह, जयन्तीलाल तखतराज मेहता, हेमन्त जगदीश बेलोकर डसाला, पवनजी मंगलायन अलीगढ़, डॉ. अरविन्द दोंडल, दि. जैन मुमुक्षु मण्डल भोपाल, अमित शास्त्री कोलकाता, भरत भौरे कारंजा, वर्धमान लोखंडे, लक्ष्मीलाल बण्डी उदयपुर, डॉ. पारसमलजी अग्रवाल उदयपुर, ब्र. हेमचन्दजी 'हेम', नीलेश जैन तथा श्री जे.के. दुष्यन्त जैन दिल्ली ने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है; इसके लिए हम उनके आभारी हैं। सूची का प्रकाशन ज्ञानदीप पुस्तक में किया जायेगा।

– **अखिल बंसल**, महामंत्री

सम्पादकीय

जिन विषयों पर समाज दिग्भ्रमित है, अतः उसे सम्यक् मार्गदर्शन की आवश्यकता है – ऐसे विषयों पर विशेषरूप से **आ.बाल ब्र. भाईसाहब पण्डित श्री हेमचन्दजी जैन 'हेम'** द्वारा लेखन–कार्य किया जाता रहा है, उन्हें प्रकाशित करने का महद् कार्य श्री अखिल भारतवर्षीय जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट के माध्यम से किया जा रहा है, उसी सन्दर्भ में विगत वर्ष अगस्त २०१६ में **'सम्यक्त्व चर्चा'** का प्रकाशन किया गया था।

उसी शृंखला में यह **'क्षयोपशम भाव चर्चा'** नामक पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है; जिसके अन्तर्गत पाँच भावों में समागत 'क्षयोपशम भाव' का विश्लेषण किया जा रहा है। यद्यपि इस पुस्तक के अधिकांश अंशों का प्रकाशन, 'धर्ममंगल' मासिक पत्रिका के मार्च २००८ में किया जा चुका है। लेकिन यहाँ यह नये कलेवर एवं प्रस्तावना के साथ प्रस्तुत किया गया है। **आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल** की अध्यक्षता एवं मार्गदर्शन में संस्था से ऐसी विद्वतापूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन हो रहा है – यह समस्त समाज के लिए अत्यन्त गौरव की बात है?

इसमें समय समय पर क्षयोपशमभाव के सम्बन्ध में जो चर्चाएँ, भाईसाहब हेमचन्दजी ने लिखी हैं, उनका समावेश किया गया है तथा प्रस्तावना में मैंने इस विषय को समझने हेतु विस्तृत ऊहापोह एवं विषय के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की है।

इसके अलावा आ. सिद्धान्ताचार्य पण्डित श्री जवाहरलालजी शास्त्री भीण्डर, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी, पण्डित श्री रतनलालजी शास्त्री इन्दौर, आदि वरिष्ठ विद्वानों के विशिष्ट लेखों को भी इस पुस्तक में समाहित किया गया है। इन सबका परिचय अनुक्रमणिकानुसार जाना जा सकता है।

इस पुस्तक के सम्पूर्ण इतिवृत्त को इसके पूर्व प्रकाशक, मासिक पत्रिका 'धर्ममंगल' की सम्पादिका, सौ. लीलावती जैन ने मार्च २००८ के अंक में 'अन्तर की बात' शीर्षक में प्रगट किया ही है। इस पुस्तक के बीज भी मई जून जुलाई २००७ के 'जिनभाषित' के सम्पादकीय लेखों को पढ़कर जो शंकाएँ, उनके मन में उत्पन्न हुईं, और उसके सम्बन्ध में आ. भाईसाहब हेमचन्दजी से समाधान जानना चाहा तो उसके समाधानस्वरूप उन्होंने समय समय पर लेख लिखकर उनका समाधान किया, उन्हीं के संकलनस्वरूप इस पुस्तक का जन्म हुआ है।

इस जटिल किन्तु आवश्यक विषय पर ग्रन्थ-प्रकाशन की आवश्यकता बताते हुए सौ. लीलावतीजी ने स्वयं लिखा है -

"धवला आदि के माध्यम से जो प्रमाण भाई ब्र. पण्डित हेमचन्दजी ने दिये हैं, उन्हें छानने (गहराई से मन्थन करने) का या उनको ध्यान में रखकर इस विषय पर विचार करने का मौका सबको मिले और समाज विवादित विषय पर निर्णय कर सकें, दिग्भ्रमित होने से बचें, अनेकों को उसका लाभ मिले और अगर इस विषय में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों, जो हमारी नजर से ओझल रह गई हों, उन्हें भी सुधारने का मौका मिले। विद्वद्वर्यों से करबद्ध प्रार्थना है कि वे अपने अभिप्राय से अवगत करावें।"

यद्यपि पूर्व-प्रकाशित अंक में कुछ सामग्री, अन्य विषय-दैव-पुरुषार्थ और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के विषय में भी है, परन्तु यहाँ इस पुस्तक में एक ही विषय पर सामग्री प्रस्तुत की है, अतः इसका नामकरण भी उसी विषय को लेकर '**क्षयोपशम भाव चर्चा**' रखा है। शेष सामग्री का आगामी पुस्तकों में उपयोग अवश्य किया जाएगा।

बाल ब्र. हेमचन्दजी जैन की ही पूर्व पुस्तक '**सम्यक्त्व चर्चा**' के समान ही इस पुस्तक को विभिन्न चर्चाओं में संकलित किया है। आशा है पाठकों को अवश्य हृदयग्राही होगा।

– **डॉ. राकेश जैन शास्त्री**, नागपुर

अन्तर की बात

– सौ. लीलावती जैन

अन्तर की बात जब आती है तो किस अर्थ से पकड़ी जाए? 'अन्तर की बात का एक अर्थ निकलता है – हृदय की बात! सूक्ष्म अन्तरात्मा की बात! बाहर की नहीं, मिथ्या भी नहीं! इसका दूसरा अर्थ निकलता है कि जब एक शब्द के विषय में दो अर्थ लगा लिये जाते हैं, तब एक अर्थ और दूसरे अर्थ के समझने में अन्तर आ जाता है, फासला (Distance) पड़ जाता है, मतभेद हो जाता है या किसी एक भाव के स्थान पर दूसरा भाव पकड़ लिया है, जबकि दोनों भावों का अर्थ एक सा नहीं है, दोनों में अन्तर है। कदाचित् दो बातें एक-दूसरे से विरोधी भी हो सकती हैं। दोनों अर्थों में जो अन्तर या फर्क है, वह हमारी दृष्टि में कोई विशेष फर्क नहीं है।

'अन्तर की बात' को जब कोई जिस स्तर पर पकड़ता है और जब दूसरा उसे उस स्तर पर पकड़ नहीं पाता तो समझने में अन्तर पड़ जाता है। सूक्ष्म गहरी बात/भाव को पकड़ना, उसके ज्ञान का उघाड़ की योग्यता/क्षमता पर निर्भर होता है। जब दो व्यक्तियों की इस क्षमता में अन्तर (फासला) पड़ जाता है तो दोनों एक-दूसरे से असहमत हो जाते हैं और जब दोनों के ज्ञान का उघाड़ एक स्तर पर बात को पकड़ लेता है तो सहमति हो जाती है, Wave-length जम जाती है।

जिनभाषित के मई एवं जून-जुलाई 2007 के सम्पादकीय लेखों को पढ़कर हमारी भी उनसे कुछ मुद्दों पर असहमति हो गयी। विशेषतः जो **परमात्मप्रकाश, 2/18, पृष्ठ 132** की संस्कृत टीका का उचित अनुवाद नहीं लगा। यद्यपि हमारा संस्कृत–व्याकरण का सूक्ष्म अध्ययन नहीं है, फिर भी 'भण्यते' तथा 'विद्यते' का अर्थ 'था' – ऐसा भूतकाल वाचक कैसे हो सकता है? कहीं अपनी बात मनवाने का प्रयास तो नहीं किया जा रहा है? इसकी टीका का हिन्दी अनुवाद का मिलान, जब हमने मूल ग्रन्थ से किया तथा सम्यक् सम्यक्त्व चर्चा (धर्ममंगल, नवम्बर 2006 का अंक) में विद्वद्वर्य पण्डित श्री रतनलालजी बैनाड़ा द्वारा किये गये अनुवाद से भी मिलान किया तो देखा कि दोनों जगह बिलकुल सही अर्थ में 'भण्यते' एवं 'विद्यते' शब्दों का अर्थ वर्तमान का वाचक में ही किया गया है।

लगता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन को जो गृहस्थावस्था में तीर्थंकर आदि को होता है, उसे बलात् सराग सम्यग्दर्शन सिद्ध करने के लिए उपचार से वीतराग सम्यक्त्व सिद्ध किया जा रहा है और जो व्यवहारसंयम, सरागसंयम, अपहृतसंयम है; उसे बलात् निश्चय संयम, वीतरागसंयम, परमोपेक्षासंयम सिद्ध किया जा रहा है – यह क्या न्याय है? अतः विद्वज्जनों को इस विषय पर गहराई से ऊहापोह कर निर्णय करना चाहिए। इससे ऐसा लगता है कि अविरतसम्यग्दृष्टि को या देशसंयमी (संयमासंयमाचरणी) को निश्चयसम्यक्त्व या स्वसंवेदन/स्वानुभूति या सामायिकादि के काल में होने वाला शुद्धोपयोग सिद्ध न हो जाए, इसलिए यह बलात् आगम के अर्थ को तोड़ा-मरोड़ा तो नहीं जा रहा है?

चूँकि ये विचार आचार्यश्री (विद्यासागरजी महाराज) के प्रवचनांश हैं, अतः कहीं हम तो नहीं चूक रहे हैं? – इस विचार से हम उन सन्दर्भों को छानने में जुट गये, पर उन शंकाओं का समाधान नहीं हुआ। फिर अन्य विद्वानों से चर्चा आरम्भ हो गयी! क्षयोपशम के सारे सन्दर्भों को छान लेने पर लगता है, कहीं हम अल्पमतियों की बुद्धि में कमी तो नहीं है? क्योंकि हमारे अधूरे ज्ञान के उघाड़ के कारण हमें कहीं भी छेद नजर नहीं आता? तो हम इस विचार पर पहुँच कर समाधान करने बैठ गये कि उन आचार्यश्री ने जो कहा, उसे लिखनेवाले ने सुनकर लिखा होगा तो उसके समझने में अन्तर आ गया होगा और उन्होंने जो जैसा जितना समझा, वैसा लिख दिया – ऐसी बात हो गयी होगी; अतः अगले कुछ अंकों में उन विषयों पर और कुछ जानने की बात आयी हो तो हम उसे देखने में लग गये। पर काश! हमारा समाधान नहीं हो पाया!

यदि आचार्यश्री ने ये बातें कहीं हैं तो उनसे; और जिनने सुनकर लिखी हैं, उनसे भी पूछा जाये तो वे अपनी ही बात दोहरायेंगे न! तो सुसंवाद भले ही हो पायेगा, पर समाधान क्या होगा? अतः पूछने की बात चलाने का मन नहीं हुआ। हाँ! विद्वत्-जगत् बहुत बड़ा है (भले ही वह दो विचारधाराओं में बँटा है); उन सबके सामने अपनी 'अन्तर की बात' रखने का भाव आया है, अतः यह छोटी-सी पुस्तक आपके हाथ में दे रहे हैं और आप विद्वद्वर्य से करबद्ध प्रार्थना है कि हम अल्पमतियों का स्तर वहाँ तक उठाने में हमारी मदद एवं मार्गदर्शन करें, जिससे हमारा समाधान हो सके।

एक बात यह भी है कि आचार्यश्री के प्रति हमारी अटूट श्रद्धा अत्यधिक

आदर की भावना है, उनके चरणों में अपार श्रद्धा से सदैव माथा झुका है तो हमने सोचा कि वे जो कहते हैं, वह सब सही ही होगा – क्यों ऐसी मनोभूमिका ही बना ली जाये, पर फिर भी मन नहीं माना, क्योंकि समाधान, स्तर तक पहुँचे बिना चैन कहाँ? जहाँ शंकाएँ हैं, वहाँ समाधान कैसा? पूर्वाचार्य की टीकाओं में टीकाकारों ने किये अर्थ-निष्पत्ति में निश्चय और व्यवहाररूप – दोनों प्रकार के अर्थ निकालकर दिखाये हैं। यहाँ भी कुछ टीकाकार यह कहते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में अनुभूति एवं शुद्धोपयोग होता है तो कुछ टीकाकार को यह मान्य नहीं; अतः ज्ञानियों को दोनों मतों को सामने रखना चाहिए।

यदि कोई यह कहे कि 'ऐसा होता ही नहीं है' और उसके समर्थन के लिए अपने मनोनुकूल टीकाकारों के वचन उद्धृत कर दें तो एकान्त पक्ष का ही समर्थन हुआ न? तथा यदि दूसरा, उन टीकाकारों के वचनों के आश्रय से यह बता दे कि 'हाँ, होता है' और ये उसके सन्दर्भ हैं तो पहला पक्ष, दूसरे पक्ष को एकान्त पक्ष का समर्थक मानने लग जाता है। तथा ऐसा माध्यस्थ्यभाव कि 'कभी होता है, कभी नहीं होता' तो वह भी सही समझ से दूर ही रहता है, क्योंकि विवाद की बला टालने हेतु ऐसा माध्यस्थ्यभाव से समझकर विषय को अलग रखा जाता है। तब जिज्ञासु को समाधान कहाँ ? ऐसी स्थिति में मूल सर्वज्ञप्रणीत-अभिप्राय तक कैसे पहुँचें? दोनों पक्ष अपने ही मत का हठाग्रह पकड़कर बैठ जायें तो विषय सम्बन्धी शंका का निर्णय करना मुश्किल होता है। समाधान चाहनेवाले हमारे ज्ञान के उघाड़ पर भी काफी कुछ निर्भर होता है। इस पंचमकाल में सभी छद्मस्थ-निर्भर ही होता है क्योंकि इस पंचमकाल में हम सभी छद्मस्थ-संसारी जीव, अपने ज्ञान-उघाड़ के स्तर पर आधे-अधूरे ही हैं।

ऐसी ही एक तात्त्विक जिज्ञासा – तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 2, सूत्र 1 में जीव के जो असाधारण पाँच भाव (उत्तरभेद की अपेक्षा 53 भाव) कहे हैं, उनमें क्षायोपशमिकभाव की स्पष्टता मुझे ठीक से नहीं हो पा रही थी, क्योंकि औपशमिक व क्षायिकभाव तो पूर्ण निर्मल भाव होते हैं, जबकि औदयिकभाव पूर्णतः मलिनभाव होते हैं, क्षायोपशमिकभाव को मिश्रभाव भी कहते हैं अर्थात् जिसमें मलिनता के साथ निर्मलता भी हो, उसे किस प्रकार घटित कर समझना? विशेषकर चारित्र गुण की पर्याय, जो मुनिराजों के क्षायोपशमिकभावरूप होती है, क्योंकि उनको मुख्यरूप से शुद्धोपयोगी और गौणरूप से शुभोपयोगी कहा है; अतः उनको संवर-

निर्जरा के साथ-साथ पुण्यास्रव-बन्ध भी होता है। जबकि पारिणामिकभाव जीव का उक्त चार भावों से निरपेक्ष एकरूप त्रिकाली जीव- स्वभाव है।

इन औदयिकादि चार आपेक्षिक (सापेक्ष) भाव या परभावों से उक्त सहज कारणरूप ज्ञान-दर्शनस्वभाव अगोचर है। इन चार में से एक औदयिकभाव विकारी पर्याय है और अन्य तीन निर्विकारी पर्यायें हैं; परन्तु अन्तर में निजस्वभाव सत्तामात्र, निरावरण, निरपेक्ष, निष्क्रिय कारणज्ञान-दर्शनरूप और सहज कारणश्रद्धा रूप जो त्रिकाली स्वभाव है, वह सहज परमपारिणामिकस्वभाव है।

जैसे, प्रकाश के प्रगट होने पर अँधेरा कितना ही घना क्यों न हो? – नष्ट हो जाता है, वैसे ही सहज परमपारिणामिकभाव के आश्रय से या उसके व्यक्त होने पर सारे मिथ्याभाव, विभावभाव नष्ट हो जाते हैं; पर्याय भी निर्मल हो जाती है। क्योंकि वर्तमान निरन्तर वर्तती पर्याय के आश्रय से कोई निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। चार विभावभावों का आश्रय लेने से परमपारिणामिकभाव का आश्रय नहीं हो सकता। परमपारिणामिकभाव का आश्रय करने से ही सम्यक्त्व से लेकर मोक्ष तक की दशाएँ प्राप्त हो सकती हैं। इस प्रकार यह 'अन्तर की बात' है, जो अन्दर निश्चय में होगा, वही तो बाहर व्यवहार में आएगा। उस त्रिकाली अनादि-अनन्त आत्मवस्तु में परवस्तु और क्षणिक पुण्य-पाप का होनापना तो दूर, उसका वर्तमान खण्ड-खण्डरूप जानने का जो क्षयोपशम है, जो ज्ञान की वर्तमान दशा या प्रगट अंश है, वह भी त्रिकाली आत्मवस्तु में नहीं है।

सारांश यह हुआ कि कारणरूप उपयोग और कारण-दृष्टि – ऐसा जो आत्मस्वभाव है, वह शुभाशुभराग से प्राप्त नहीं है अर्थात् अन्तर में जो कारणदृष्टिमय स्वभाव है, वह शुभ-प्रशस्त राग से भी ज्ञात हो – ऐसा नहीं होता। सुख का मार्ग तो अन्तर में है, वह शुभ या अशुभ राग से प्राप्त नहीं होता। कितनी भी राग की मन्दता कर, शुक्ललेश्यारूप दशा क्यों न प्रगट करें, अन्तर के चैतन्य स्वभाव के आश्रय या शरण में जाने के अलावा कोई मार्ग नहीं है। उस अकृत्रिम, परम स्व-स्वरूप, अविचल स्थितिमय शुद्ध स्थिति को ही 'चारित्र' नाम दिया जाता है।

एक समयवर्ती पर्याय जितना आत्मा को मानना – यही बड़ी भूल है, भ्रम है। आचार्य कुन्दकुन्द और उनके परवर्ती टीकाकार, पर्याय का आश्रय छुड़ाने के लिए पर्याय का ज्ञान अवश्य कराते हैं, परन्तु उसे भी हेय कहकर प्रयोजन तो

मोक्षमार्ग का ही समझाते हैं; इसीलिए कहते हैं कि मोक्षमार्ग, पर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होता।

हम सोचते हैं कि क्या ज्ञानीजन यह जानते नहीं होंगे? जिन्होंने पंच परमागमों का अनेक बार वाचन किये हों, वह ऐसी 'अन्तर की बात' न जाने – ऐसा कैसे हो सकता है? इन विचारों के पश्चात् हमारी सोच यहाँ तक पहुँचती है कि जितने व्यक्ति, 'उतनी प्रकृतियाँ' का मतलब यही होगा कि हर एक व्यक्ति के ज्ञान उघाड़ की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। हर किसी को अपनी संसारी अवस्था की स्थिति का, आधे-अधूरे ज्ञान-दर्शन के उघाड़ का भान सदैव रखना चाहिए। किसी भी तत्त्व या वस्तुस्वरूप को समझते/विवेचन करते समय, अपने ज्ञान में जहाँ तक किसी मत का स्पष्टपना उजागर होता है, उसी के अनुसार बात को पकड़ना या समझना पड़ता है, यह ध्यान में लेकर हम भी अपनी अपूर्णता को समझकर ही विवेचन कर रहे हैं, हो सकता है कि हमारी इस योग्यता के अनुसार कुछ नजर से ओझल रहा हो या छूट गया हो; अतः ऐसा 'ही' है, इसके स्थान पर कहना चाहिए कि ऐसा 'भी' हो सकता है, ऐसा हम सोच रहे हैं क्योंकि हमारी समझ में इतना ही आया है।

एक बार ब्र. पं. श्री हेमचन्दजी जैन 'हेम', भोपाल का 01.09.2007 को पुणे आना हुआ तो मैंने अपने 'अन्तर की बात', उक्त शंकाओं के समाधानार्थ उनके सामने रखी। वे मुझे आगम-प्रमाणों से समाधान करनेवाले, निष्पक्ष विचारक, सत्यशोधक विद्वान् लगे। जो शंकाएँ, जिनभाषित के मई और जून-जुलाई 2007 के सम्पादकीयों को पढ़कर मेरे मन में उठी थीं, वे उनके सामने रखीं। वे शंकाएँ इस प्रकार हैं –

1. निश्चयसम्यग्दर्शन क्या शुभोपयोगरूप भी होता है?
2. क्षायोपशमिकभाव को मिश्रभाव क्यों कहते हैं? विशेषतया उसमें क्षायोपशमिक चारित्र क्या है? समझाइए। क्या इस विषय पर आपने कभी आचार्यश्री से बात की है?
3. निमित्त-नैमित्तिक एवं कर्ता-कर्म सम्बन्धों में क्या कुछ अन्तर होता है?
4. 'दैव बनाम पुरुषार्थ' या 'नियति बनाम पुरुषार्थ' पर आगम क्या कहता है? स्पष्ट करें।

समयाभाव में भी उन्होंने कुछ बातें तत्काल समक्ष समझायीं। उसके बाद

आगम-प्रमाण देते हुए काफी पत्राचार भी हुआ, परन्तु विस्तृत समाधान माँगने पर भाई ब्र. पं. श्री हेमचन्दजी ने उक्त सभी शंकाओं के जवाब विस्तृतरूप से हमें लिखकर भेजे। जो कुछ हाथ आया, वह पढ़कर मुझ अल्पमती का समाधान तो हुआ है, परन्तु विचार यह आता है कि उक्त जिनभाषित के सम्पादकीय पढ़ने पर विद्वानों के मन में भी कुछ शंकाएँ तो अवश्य ही उभरी होंगी; अतः वह सारी चर्चा क्रम से, सुव्यवस्थित उनसे ही लिखाकर, इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया; ताकि धवला आदि के माध्यम से जो प्रमाण भाई ब्र. पं. हेमचन्दजी ने दिये हैं, उन्हें छानने का, या उनको ध्यान में रखकर उक्त विषयों पर विचार करने का मौका सबको मिले और समाज विवादित विषय पर निर्णय कर सकें, दिग्भ्रमित होने से बचें, अनेकों को उसका लाभ मिलें और अगर इस विषय में और कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों, जो हमारी नजर से ओझल रह गयी हो, उन्हें भी सुधारने का हमें भी मौका मिले।

विद्वद्वर्यों से करबद्ध प्रार्थना है कि वे अपने अभिप्राय से अवगत करावें। भाव, किसी के अविनय का नहीं है, केवल सत्यार्थ तक पहुँचने में हम सब एक-दूसरे के पूरक बनें – यही भावना भाते हैं। अगर किसी के भावों को ठेस पहुँचती है तो क्षमा चाहते हैं। हमारे ये विचार, किसी व्यक्ति-विशेष से प्रभावित नहीं हैं; बस, हम तो आगम के आलोक में आगम-अध्यात्म का मर्म जानना चाहते हैं, जिससे विरोधाभास मिट सके। अगर कुछ भी नहीं बनता है तो इस चर्चा के बहाने हमें अपनी शंकाओं को मिटाकर, अपना ज्ञान निर्मल करने का अवसर प्राप्त हुआ, हमारे लिए यह भी कुछ कम लाभ नहीं है; हमें उसी में सन्तोष है।

आशा है कि इस कृति को भी हमारी इसी योग्यता के अनुसार आप विद्वद्वर्य पढ़ेंगे और अगर हमारी सोच में कहीं कुछ अधूरा हो, छूट गया हो तो अवगत करायेंगे, मार्गदर्शन करेंगे, ताकि समाधान की सीमा तक हम सभी अपने आप को पहुँचा सकें।

पूर्व में इसका **'सम्यक् तत्त्वचर्चा'** के नाम से प्रकाशन, धर्ममंगल पत्रिका के माध्यम से अध्यात्मयोगी 108 श्री वीरसागरजी महाराज की पुण्यतिथि (यम-सल्लेखना-10.03.1993) के अवसर पर भी किया गया था।

अतः सभी के आत्मकल्याण की शुभकामना के साथ विराम लेती हूँ।

*****

प्रस्तावना

जीव के स्वतत्त्वभूत पाँच भावों में 'क्षयोपशमभाव' अपने आप में बहुत सारे रहस्यों को समेटे हुए है। इसे तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में 'मिश्रभाव' कहकर सम्बोधित किया गया है। इस 'मिश्रभाव' में पर्यायरूप सभी भावों का समावेश किया गया है।

जहाँ द्रव्यरूप एकमात्र भाव पारिणामिकभाव है, वहीं पर्यायरूप चार भावों में कर्मोदय-निमित्तक-भाव 'औदयिकभाव' कहलाता है। कर्मोपशम-निमित्तक-भाव 'औपशमिकभाव' कहलाता है। कर्मक्षय-निमित्तक-भाव 'क्षायिकभाव' कहलाता है। लेकिन इस मिश्रभाव में कर्मोदय, कर्मोपशम, कर्मक्षय – इन तीनों कर्मों की अवस्थाओं का निमित्त होता है, इसी कारण इसे 'मिश्रभाव' कहते हैं।

इसी भाव को उदय की प्रधानता से वेदक, क्षय व उपशम की प्रधानता से क्षायोपशमिक, उदय व उपशम की प्रधानता से उदयोपशमिक एवं तीनों क्षय, उपशम व उदय की प्रधानता से क्षयोपशमौदयिक भी कहा जाता है।

इन औदयिक आदि पाँच भावों में सामान्यत: गुणों की मुख्यता होती है। लेकिन यदि द्रव्य की मुख्यता से देखा जाए तो गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं; इसलिए सभी गुणों के अलग-अलग भावों का यदि सम्मिश्रण किया जाए तो उस सम्मिश्रित भाव को धवला आदि आगम ग्रन्थों में 'सान्निपातिक भाव' कहा है।

जैसे, किसी जीव को एकसाथ श्रद्धा की अपेक्षा क्षायिकभाव है, चारित्र की अपेक्षा औपशमिकभाव है और ज्ञान की अपेक्षा क्षयोपशमभाव है, गति आदि की अपेक्षा औदयिकभाव है, और जीवत्व की अपेक्षा पारिणामिकभाव है तो समुच्चय रूप में उसके इस भाव को 'सान्निपातिक भाव' कहा जाएगा, क्योंकि उन सभी भावों का –मिश्रण करने पर एक सन्निपात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण उस समय आत्मा के उस मिश्रित भाव की 'सान्निपातिक भाव' – यह संज्ञा सार्थक है।

आज से लगभग 24 वर्ष पूर्व सन् 1993 में महावीर जयन्ति के समय मेरी आचार्य विद्यासागरजी के साथ नागपुर प्रवास के दौरान अनेक विषयों पर लम्बी मन्त्रणा हुई थी, उस समय इस क्षयोपशमभाव की बहुत चर्चा हुई थी। उसी के आधार पर बहुत ऊहापोह करने के बाद मैंने अपने विशेष समाधान हेतु एक पत्र भी आगम के मर्मज्ञ विद्वान् पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर को लिखा था, जिसका मुझे समाधान प्राप्त नहीं हुआ।

इस पत्र की अनेक प्रतियाँ मैंने अनेक विद्वानों को भी भेजी थीं, समाधानस्वरूप एक पत्र पण्डित राजमलजी साहब, भोपाल का प्राप्त हुआ था, जिसमें उन्होंने स्वयं का पण्डित जवाहरलालजी को लिखा पत्र और उसका जवाब भी मुझे प्रेषित किया, जिसके कुछ अंश हम आगे प्रकाशित भी कर रहे हैं। इसी प्रकार ब्र. हेमचन्दजी के द्वारा भेजा गया विस्तृत जवाब भी हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

सर्व प्रथम **पण्डित राजमलजी साहब, भोपाल के द्वारा लिखे पत्र को,** जिसमें उन्होंने ब्र. पण्डित भुवनेन्द्रकुमारजी के पत्र का भी उल्लेख हुआ, उसके सन्दर्भित अंश को यहाँ पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं –

"श्रीमान् आदरणीय आत्मार्थी पण्डित जवाहरलालजी शास्त्रीजी,

सादर जयजिनेन्द्र! अत्र कुशलं तत्रास्तु!!

..... इन्दौर से एक मुमुक्षु भाई ने प्रवचनसारजी की गाथा 157-158 श्री अमृतचन्द्राचार्यजी की टीका में शुभोपयोग और अशुभोपयोग के स्वरूप का कथन करते हुए विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहनेवाले तथा विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से .... शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग है – ऐसा लिखा है।

उक्त टीका के आधार पर निम्न प्रश्न हैं –

(1) क्या शुभोपयोग क्षयोपशमभाव है? (2) क्या वह मिथ्यादृष्टि को नहीं होता? (3) क्या सम्यग्दृष्टियों को अशुभोपयोग नहीं होता? (4) शुभराग-अशुभराग और शुभोपयोग-अशुभोपयोग में क्या भेद है? (5) क्या सम्यग्दृष्टि को अशुभराग होता है? (6) क्या मिथ्यादृष्टि को शुभराग होता है?

मैं पूर्वापर गाथाओं के आधार पर चिन्तन कर निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ-

क्या वह ठीक है? आचार्यदेव ने गाथा 155 में लिखा है – 'परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग-विशेष है। वह उपयोग, शुद्ध-अशुद्ध दो प्रकार का है। उसमें शुद्ध निरुपराग है और अशुद्ध सोपराग है। वह अशुद्धोपयोग, शुभ-अशुभरूप से दो प्रकार का है, क्योंकि उपराग विशुद्ध (मंदकषाय) संक्लेषरूप (तीव्रकषाय) दो प्रकार का है।'

गाथा 156 में आचार्यदेव ने यह दर्शाया है कि 'शुभोपयोग मन्दकषाय पुण्यरूप परद्रव्य का और अशुभोपयोग तीव्रकषाय पापरूप परद्रव्य का संयोग का कारण होता है और शुद्धोपयोग, परद्रव्य के संयोग का अकारण है।'

श्री जयसेनाचार्यदेव ने इन गाथाओं की टीका के अन्त में लिखा है कि 'इसतरह शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग का सामान्य कथन करते हुए दूसरे स्थल में दो गाथायें समाप्त हुईं।'

मेरे विचार से इस गाथा में सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि की मुख्यता नहीं है – सिर्फ स्वरूप का वर्णन है। मूल गाथा 157-158 में आचार्यदेव ने शुभोपयोग-अशुभोपयोग का सामान्य स्वरूप व उसके आश्रय (विषय) का ही वर्णन किया है, परन्तु उनकी टीकाओं में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने उनके अन्तरंग निमित्त कारणों की भी विशेषता दर्शायी है; क्योंकि अशुद्धोपयोग सहज स्वरूप से विपरीत होने के कारण एक जाति का होने पर भी उनके भेद-विशेष की अपेक्षा से शुभोपयोग-अशुभोपयोग में भाव-भिन्नता मन्द-तीव्रता है तो उसके कारणों में भी भेद होना चाहिये। जबकि श्री जयसेनाचार्य ने निमित्त कारण का वर्णन न करके उनके बाह्य आश्रय कारण का ही वर्णन किया है।

शुभोपयोग का कारण क्षायोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ-उपराग होता है – मेरे विचार से अशुभोपयोग से शुभोपयोग के निमित्त कारण की भिन्नता दर्शाने के लिए 'विशिष्ट क्षयोपशम' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मों के अनुभाग, असंख्यात लोक-प्रमाण हैं। इसमें जीव, दारु भाग के अनन्तवें भाग-प्रमाण निचले स्पर्धकों का अनियम उदय होने से बुद्धिपूर्वक गृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर – व्यवहाररूप से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा तत्त्वों की श्रद्धादि करता है, पूजा भक्ति आदि कार्य करता है और त्रस-स्थावर जीवों की

दया पालता है। ऐसा जीव व्यवहाराभासी, सम्यक्त्व के सन्मुख व सम्यग्दृष्टि जीव भी हो सकता है।

गाथा 158 की टीका में अशुभोपयोग का स्वरूप-वर्णन किया है; उसमें विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप कर्मों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभोपयोगरूप परिणमन करता हुआ उन्मार्ग की श्रद्धा करता है और विषय-कषायादि व कुसंगति-कुविचारों में लगा रहता है।

गाथा 159 में अशुद्धोपयोग का निमित्त कारण मन्द-तीव्र उदयदशा में रहने वाला परद्रव्यानुसार (द्रव्यकर्मानुसार) परिणति के आधीन होने से प्रवर्तित होता है। इस गाथा में अशुद्धोपयोग के भेदरूप शुभोपयोग-अशुभोपयोग का कारण विशिष्ट क्षयोपशम या विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शन-चारित्रमोहनीय का कथन न करके मन्द-तीव्र दशा का कथन किया है।

इससे ऐसा लगता है कि गाथा 157-158 में जो विशिष्ट क्षयोपशम या उदयदशा का कथन किया है, उसका मतलब मन्द-तीव्र कर्मोदय से ही है, जो कि सम्यग्दृष्टि या व्यवहार सम्यग्दृष्टियों में भी अपने-अपने पद के योग्य घट जाता है।

कुछ विज्ञजन गाथा 157 के आधार पर व्यवहार व्रत-नियम-संयमादि को 'क्षयोपशम भाव' कहते हैं, जिससे इन भावों से संवर भी होता है, बन्ध भी होता है, अत: यह औदयिकभाव नहीं है – क्या यह ठीक है?

कुछ विद्वानों का कहना है कि शुभोपयोग, सम्यग्दृष्टि के ही होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं। मिथ्यादृष्टि को शुभोपयोग होता है, जिससे वह उच्च गतियों में जन्म लेता है – क्या यह ठीक है? मेरे विचार से यह कहना मुख्यता की अपेक्षा हो सकता है; तारतम्यता की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को भी शुभोपयोग-अशुभोपयोग, शुभयोग-अशुभयोग होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 277 पर लिखा है कि 'मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवालों को 'पापजीव' कहा है और असंयतादि गुणस्थानवालों को 'पुण्यजीव' कहा है, सो मुख्यता से ऐसा कहा है, तारतम्यता से दोनों के पुण्य-पाप यथासम्भव होते हैं।

श्रीमान् आदरणीय स्व. पं. फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीजी द्वारा लिखित अकिंचित्कर परिशीलन पुस्तक के आधार पर भी प्रश्न आया है; जो निम्न प्रकार है –

उक्त पुस्तक में मुझे इस बात का हल नहीं मिला कि स्थिति-अनुभाग कौन डाल सकता है – मूलाचार की गाथा 968 (अकिंचित्कर अनुशीलन, पृष्ठ 42) का प्रमाण देकर वे यह सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु यह सिद्ध नहीं होता है। उनमें रति, राग आदि सभी कर्मों के बंध के सामान्य प्रत्यय है – यह मानकर भी टीकाकार ने कषाय को ही स्थिति-अनुभाग का कारण स्वीकार किया है।

एक प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि मिथ्यात्व में अपनी प्रकृति के अनुसार ही *अनुभाग* पड़ता है या कषाय की प्रकृति के अनुसार भी? क्या उसमें दो अनुभाग डाले जाते हैं? यदि मिथ्यात्व, कषाय का काम कर सकता है तो एक आवली के बाद कषाय के उदय आ जाने पर भी उसका कार्य जो मिथ्यात्व कर ही रहा है तो कहना होगा कि अनन्तानुबन्धी अकिंचित्कर है, यह मान्य हो सकेगा क्या?

प्रत्येक कर्म में अपने प्रकृति-बन्ध के अनुसार ही अनुभाग के हानि-वृद्धि की प्राप्ति होती है, यही माना जाता है। यदि एक प्रकृति, दूसरी प्रकृति का काम करने लगे तो प्रकृति-भेद ही क्यों हो? केवल एक अपवाद है कि अनन्तानुबन्धी द्विमुखी है, ये चारित्र और सम्यक्त्व दोनों का घात करती है, पर मिथ्यात्व को द्विमुखी कहीं नहीं लिखा गया।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय आदि को सामान्य प्रत्यय भी लिखा है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड का प्रत्ययाधिकार देखिये – 786-787-788; इन सबके देखने के बाद यह तो कह सकते हैं कि मिथ्यात्व, अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ हैं, अकिंचित्कर नहीं कहना चाहिये, पर वह कषाय को प्रभावित करते हुए भी स्वयं कषाय का काम करता है – यह तो मानना योग्य नहीं है। मैंने जो अंश पुस्तक के देखे हैं, उसमें कोई प्रमाण ऐसा नहीं है, जिसमें स्पष्टतया मिथ्यात्व को स्थिति-अनुभाग डालने का उल्लेख हो। आपने देखा हो तो लिखिये, मय पृष्ठ संख्या के।

मेरे विचार से पण्डितजी ने अकिंचित्कर पुस्तक में पृष्ठ 41-41 पर पंचास्तिकाय गाथा 148 (श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका) में तथा मूलाचार उत्तरार्द्ध में स्पष्ट रूप से स्थिति-अनुभाग बंध में मिथ्यात्व को निमित्त कहा है – ऐसा प्रमाण किया है। पंचास्तिकाय की टीका की अन्तिम पंक्ति में **'अथ यतः कारणात्कर्मादान रूपेण प्रकृति-प्रदेशबन्धहेतुस्ततः.....स्थित्यनुभागबन्धहेतुत्वादभ्यन्तरकारणं**

कषाय इति तात्पर्यः ।' पण्डितजी ने इस पंक्ति का उल्लेख अकिंचित्कर पुस्तक में नहीं किया है। इस पंक्ति के आधार पर यह निर्णय-निष्कर्ष निकलता है कि आचार्यदेव ने रति, राग, द्वेष व मोह भावों से कर्मों का स्थिति-अनुभाग बंध लिखा है, परन्तु उनका अभिप्राय बन्ध के सामान्य प्रत्यय से ही है; क्योंकि अन्त में आचार्य ने स्थिति-अनुभाग बन्ध का अन्तरंग कारण कषाय को ही माना है।

मेरे विचार से जिस प्रकार पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 26 पर 'मोहनीय कर्म के द्वारा जीव को अयथार्थ-श्रद्धानरूप तो मिथ्यात्भाव होता है, तथा क्रोध-मान-माया-लोभादिक कषायभाव होते हैं .... इन भावों से नवीन बन्ध होता है; इसलिये मोह के उदय से उत्पन्न भाव, बन्ध के कारण हैं।' पृष्ठ 27 पर 'तथा मोह के उदय से मिथ्यात्व, क्रोधादिक भाव हैं, उन सबका नाम सामान्यतः कषाय है, उससे उन कर्म-प्रकृतियों की स्थिति बँधती है .....'' पृष्ठ 28 पर '..... अनुभाग बँधता है।' (अकिंचित्कर, पृष्ठ 38 पर इसका उल्लेख किया है।)

श्री पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल द्वारा रचित भावदीपिका पृष्ठ 33 (प्रकाशक पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर 1987) पर आस्रवतत्त्व के वर्णन में लिखा है – 'बहुरि कर्मनि विषैं स्थिति-अनुभाग बन्ध का कारण, ऐसी मिथ्यात्व- अकषाय-अव्रतविशेष को धरैं राग-द्वेषभाव, तिनकूं भी आस्रव कहिये।'

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय मात्र का उदय स्थिति-अनुभाग बंध का कारण है; जो औदयिक विकारी भाव है। इसका भेद करके देखें तो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय का भेद हो जाता है। सामान्यतः देखें तो मोह या (अन्तदीपक) कषाय को भी स्थिति-अनुभाग बन्ध का कारण कहते हैं।

मेरा प्रश्न है – आगम में अनन्तानुबन्धी को द्वि-स्वभावी कहा है – यह लक्षण-दृष्टि का कथन है या विवक्षा है (श्री पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 336/337 पर सिद्ध किया है कि 'अनन्तानुबन्धी चारित्र ही का घात करती है, सम्यक्त्व का घात नहीं करती, सो परमार्थ से है तो ऐसा ही ...... उपचार से अनन्तानुबन्धी के भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है।) मेरे विचार से अनन्तानुबन्धी को द्वि-मुखी कहना विवक्षा है, लक्षण-दृष्टि का कथन नहीं है।''

– **राजमल जैन,** भोपाल

इन प्रश्नों का जो जवाब पण्डित राजमलजी साहब, भोपाल को **पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर** की ओर से जो प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने स्वयं **शंका-समाधान** के रूप में लिखा है, उसे हम यहाँ पाठकों के समक्ष विचार-विमर्श हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं –

पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर से प्राप्त शंका-समाधान

"**शंका 1** – शुभोपयोग किस गुणस्तान से किस गुणस्थान पर्यन्त होता है? प्रवचनसार में गाथा 157-60 की टीका में 'क्षयोपशम' शब्द आया है, वह मेरे विचार से 'मन्द उदय' अर्थ में आया है। स्पष्टीकरण करें।

समाधान – (अ) **मिथ्यादृष्टि-सासादन-मिश्रगुणस्थानोपर्युपरि मन्दत्वेनाऽशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग-साधकः उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते। तदनन्तरमप्रमत्तादि-क्षीणकषाय-पर्यन्तं जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदेन विवक्षित एकदेश-शुद्धनयरूप-शुद्धोपयोगो वर्तते।**

अर्थात् मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र – इन तीन गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दता से अशुभोपयोग रहता है। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा प्रमत्तसंयत नामक तीन गुणस्थान हैं, इनमें परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक – ऐसा शुभोपयोग रहता है, जो इनमें ऊपर-ऊपर तरतमता से रहता है। इसके पश्चात् अप्रमत्तादि क्षीणकषाय तक 6 गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट के भेद से शुद्धोपयोग वर्तता है, जो कि विवक्षित एकदेश-शुद्धनयरूप होता है।

(वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 34, पृष्ठ 96, प्रकाशन देहली, प्र. संस्करण, 1953 ई.)

(ब) प्रवचनसार गाथा 9 की टीका में भी कहा है –

गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सरागसम्यक्त्व-पूर्वक-दान-पूजादि-शुभाऽनुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तर-गुणादि-शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्यः इति। मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योग-पंच-प्रत्यय-रूपाऽशुद्धोपयोगेनाऽअशुभो विज्ञेयः। निश्चय-रत्नत्रयात्मक-शुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्यः।

अर्थात् गृहस्थ की अपेक्षा यथासम्भव रागसहित सम्यक्त्व-पूर्वक दान, पूजा आदि (शुभकार्यों के करने से) तथा मुनि की अपेक्षा मूल व उत्तरगुणों (को अच्छी

तरह पालन करनेरूप वर्तने में परिणमन करने) से परिणत जीव शुभोपयोग है; मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग – ऐसे 5 प्रत्ययरूप अशुद्धोपयोग से परिणत जीव अशुभ है। निश्चय-रत्नत्रयस्वरूप शुद्धोपयोग से परिणत जीव शुद्ध है – ऐसा जानना चाहिए।

नोट – यहाँ शुभोपयोग की परिणति में सराग-सम्यक्त्वपूर्वक शुभकार्य करना कहा, न कि सम्यक्त्व रहित भी। तथा मुनि के शुभोपयोग में मूलोत्तर गुणों के अन्तर्गत गुप्ति आदि रूप निवृत्ति स्वरूप धर्म भी आते हैं। इतना विशेष है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्वादि पाँचों प्रत्यय नियम से रहते हैं, अतः वहाँ अशुभोपयोग नियम से रहा सिद्ध होता है।

(स) धवल पुस्तक 13 में स्पष्ट रूप से क्रियाकर्म (नमन, जिनस्तुति, वन्दना, आवर्त आदि उपासना) चौथे गुणस्थान से ही बताया है। (प्रस्तावना, पृ. 7, मूल ग्रन्थ पृ. 109, 110, 113, 123, 125, 144, 160, 180 – इन पृष्ठों में लिखा है कि यह शुभ क्रिया-कर्म, चौथे से सातवें में ही होता है, आगे-पीछे नहीं।)

(द) प्रवचनसार गाथा 181 टीका में भी 1 से 3 गुणस्थान में अशुभोपयोग, 4 से 6 में शुभोपयोग तथा सातवें से शुद्धोपयोग कहा है। यथा –

मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टि-मिश्र-गुणस्थान-त्रये तारतम्येनाऽशुभ-परिणामो भवति। अविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयत-गुणस्थान-त्रये तारतम्येन शुभ-परिणामश्च भणितः। अप्रमत्तादि-क्षीणकषायाऽन्त-गुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि (पूर्वम्) भणितः।

अर्थात् प्रथम तीन गुणस्थानों में तारतम्य से अशुभ-परिणाम होता है। चौथे से छठवें में तारतम्य से शुभ-परिणाम होता है तथा आगे सातवें से बारहवें तक तारतम्य से शुद्धोपयोग होता है।

(क) यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि **आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीका में कहीं भी इन उपयोगों को गुणस्थानानुसार विभाजित नहीं किया**, तथापि शुभोपयोग की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि –

विशिष्ट-क्षयोपशम-दशा-विश्रान्त-दर्शन-चारित्र-मोहनीय-पुद्गला-ऽनुवृत्ति-परत्वेन परिगृहीत-शोभनोपरात्वात् परमभट्टारक-महादेवाधिदेव-

परमेश्वराऽर्हत्-सिद्ध-साधु-श्रद्धाने समस्त-भूत-ग्रामाऽनुकम्पाऽऽचरणे च प्रवृत्तः शुभः उपयोगः।

अर्थात् विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से, शुभ-उपराग का ग्रहण करने से जो उपयोग, परमेष्ठी की श्रद्धा में तथा सर्व जीव-दया में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है। (प्रवचनसार गाथा 157 की तत्त्वप्रदीपिका टीका)

इस टीका में भी यही भासित होता है। यहाँ 'क्षयोपशम' शब्द का उदय अर्थ कदापि नहीं होता। उदय से औदयिक भाव बनता है तथा क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव बनता है। करणानुयोग में 'उदय' अर्थ में 'क्षयोपशम' शब्द नहीं आता है।

किंच मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोह का क्षयोपशम होता भी नहीं; क्योंकि वहाँ उदीयमान मिथ्यात्व-प्रकृति में सर्वघाति द्वि-स्थानिक, त्रि-स्थानिक व चतुःस्थानिक ही स्पर्धक होते हैं। कारण यह कि मिथ्यात्व की जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट या अनुत्कृष्ट सर्व प्रकार की उदीरणा सर्वघाति ही होती है।

(जयधवल ११, पृष्ठ ३७-३८ तथा धवल १५/१७)

इसी तरह **चारित्र-मोह-कर्म का भी मिथ्यादृष्टि के क्षयोपशम-भाव नहीं होता,** क्योंकि जहाँ देशघाति-स्पर्धकों से रहित तथा मात्र सर्वघाति-स्पर्धक ही जिसके होते हैं – ऐसी अनन्तानुबन्धी आदि तीन चौकड़ियाँ जहाँ प्रतिक्षण उदित हैं, वहाँ क्षयोपशम कैसा?

क्षयोपशम-भाव के लिए तो यह आवश्यक है कि उस विवक्षित कर्म के देशघाति-स्पर्धकों का तो उदय हो तथा सर्वघाति-स्पर्धकों का अनुदय हो। (यह नियम मिश्र-प्रकृति को छोड़कर सर्वत्र है।)

परन्तु **प्रथम गुणस्थान में तो मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी; जिनके कि सर्वघाति-स्पर्धक ही होते हैं, अतः इनकी उदीरणा व उदय सर्वघाति ही हैं।** (-जयधवला 11/30-38) तो फिर इनके उदय से क्षयोपशमभाव प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अतः 'क्षयोपशम-दशा-विश्रान्त-दर्शन-चारित्र-मोहनीय' (प्रवचनसार गाथा 157 की तत्त्वप्रदीपिका टीका) पद से चतुर्थ आदि गुणस्थान ही गृहीत होते हैं। वहीं का

राग, शोभन उपराग, शुभोपराग या शुभोपयोग है। यहाँ क्षायोपशमिकभाव ही मुख्यता से इसलिए कहा कि शेष सम्यक्त्वी (उपशम व क्षायिक) तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वियों की तुलना में; धान के गोदाम में एक दाने के समान ही हैं। (षट्खण्डागम, जीवस्थान, अल्प-बहुत्व 15-17, सर्वार्थसिद्धि 211, धवल 3/68 आदि)

इसी प्रकार चारित्रमोह में भी क्षायोपशमिक भाव वाले यानि क्षायोपशमिकचारित्र वाले ही पाँचवें व छठे गुणस्थान में होते हैं, अन्य चारित्रवाले नहीं (देखो, धवल 5 भावानुगम में संयतासंयत व संयत के भाव) ऐसी विशिष्ट-क्षयोपशम-दशा में वर्तनेवाले दर्शन-चारित्र-मोहनीय (यथायोग्य) रूप कर्म के अनुसार परिणति में लगा होने से वहाँ की भूमिका का वह राग भी शोभन है अर्थात् शुभ है। वैसा होने से वहाँ होनेवाला पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा तथा जीवदयाभाव शुभोपयोग है।

गाथा 159 में जो शुभ-अशुभ को मन्द व तीव्र उदयदशा में रहनेवाला कहा है, वह मात्र उस-उस स्वकीय भूमिका के राग अंश, कषाय अंशरूप शुभाशुभ की अपेक्षा कहा है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के गये बिना कैसा मन्द उदय? इन दोनों से संजात विपरीताभिनिवेश विषय-भोगाकांक्षा परिणाम तथा प्रतिशोधभाव चले जाने पर ही परमार्थतः 'मन्द उदय' है।

(ख) 1. रत्नत्रय, आर्जवधर्म, दया धर्म.....मय भाव शुभभाव है।

(-रयणसार 64-65 दवत्थकाया....)

2. **शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।**

अर्थात् अपहृत संयम नामक शुभोपयोग लक्षणवाले सरागचारित्र नामवाला होता है। (द्रव्यसंग्रह, टीका 45)

3. **'शुभः धर्म्यम्'** धर्म्य-ध्यान शुभभाव है। (मात्र मन्द-कषाय भाव नहीं।)

(भावपाहुड़, मूल 76)

4. **एकदेश-परित्यागः .... शुभोपयोगः इति एकार्थः। सर्व-परित्यागः ....शुद्धोपयोगः इति एकार्थः।**

अर्थात् एकदेश-त्याग और शुभोपयोग, ये एकार्थवाचक हैं तथा सर्व-परित्याग तथा शुद्धोपयोग एकार्थवाचक शब्द हैं। (प्रवचनसार, ता.वृ. 230)

इसी स्थल पर लिखा है – **सरागचारित्रं शुभोपयोगः इति** अर्थात् सरागचारित्र को शुभोपयोग कहते हैं। (न कि मात्र मन्दकषाय को)

– इन पाँच बिन्दुओं से स्पष्ट है कि शुभोपयोग में सम्यक्त्व या चारित्र-परिणाम तथा रागांश दोनों गृहीत होते हैं। जिसे विस्तार से मुख्तार ग्रन्थ भाग 1, पृष्ठ 733-34, 777. 851-852 पर भी कहा गया है।

शुभोपयोग में इस रत्नत्रयांश से नियम से संवर अथवा संवर-निर्जरा तथा रागांश से नियम से आस्रव-बन्ध होते हैं। कहीं-कहीं शुभोपयोग के इस राग-अंश को ही मुख्य करके मात्र शुभराग या विशुद्धि को भी शुभोपयोग कहा है, वह भी ठीक है। उस दृष्टि से यानि रागांशात्मक शुभोपयोग की दृष्टि से तो वह नियम से बन्ध का ही कारण है।

(**येनांशेनास्य रागः** ..... पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, आचार्य अमृतचन्द्र)

शंका 2 – आगम में अनन्तानुबन्धी को द्वि-स्वभावी कहा है – यह लक्षण -दृष्टि का कथन है या विवक्षा-कथन है या पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में पृष्ठ 336-337 पर यह सिद्ध किया है कि 'अनन्तानुबन्धी चारित्र ही का घात करती है, सम्यक्त्व का घात नहीं करती, सो परमार्थ से है तो ऐसा ही .... उपचार से अनन्तानुबन्धी के भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है।'

अत: मेरे विचार से अनन्तानुबन्धी को द्वि-मुखी कहना विवक्षा है, लक्षण-दृष्टि का कथन नहीं है।

समाधान – (अ) धवल 6/38 पर दर्शनमोह के तीन ही भेद बताये – सम्यक्त्व, मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व (**दंसणमोहस्स संतकम्मं तिविहं सम्मतं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि**); सात भेद नहीं बताये, जिससे कि अनन्तानुबन्धी – क्रोध, मान, माया, लोभ को भी दर्शनमोह माना जाये।

(ब) धवल 16 पृष्ठ 341 व 415-16 में स्पष्ट कहा है कि मिथ्यात्व का प्रथम गुणस्थान में संक्रम नहीं होता तथा सासादन में भी अनन्तानुबन्धी के बँधते हुए भी मिथ्यात्वादि तीन का संक्रम नहीं बताया। (**मिच्छत्तस्स संकामओ को होइ – सम्माइट्ठि। सासणो वि दंसणमोहणीयस्स असंकामगो**)

अतः यह स्पष्ट है कि संक्रमण-प्रकरण में भी अनन्तानुबन्धी को शुद्ध चारित्रमोह माना। अन्यथा दर्शनमोहरूप मानते तो प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के असंक्रम का प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि उससमय अनन्तानुबन्धी बध्यमान सजातीय-प्रकृति उपलब्ध है, अतः मिथ्यात्व का उसमें संक्रम बन जाता, पर वैसा नहीं कहा; अतः सुस्पष्ट है कि संक्रम में भी अनन्तानुबन्धी को शुद्ध चारित्रमोह ही माना है।

(स) आगम में आदि के चार गुणस्थानों में दर्शनमोह के उदय की विवक्षा करके सासादन में पारिणामिकभाव कहा। (सर्वार्थसिद्धि 1/8, गोम्मटसार जीव 11, धवल 1/169-70, षट्खण्डागम 5/197) परन्तु यदि ये अनन्तानुबन्धी को भी दर्शनमोह मानते तो सासादन में उक्त स्थलों पर औदयिकभाव कहते।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि अनन्तानुबन्धी परमार्थतः (उक्त दृष्टियों से) मात्र चारित्रमोह का ही भेद है।

तथापि चूंकि प्रथम गुणस्थान में दो प्रकार का विपरीताभिनिवेश पाया जाता है – एक मिथ्यात्व-जनित तथा दूसरा अनन्तानुबन्धी-जनित। (धवल 1/165) इन दोनों के गये बिना त्रिकाल भी सम्यक्त्व नहीं हो सकता; अतः इस कारण अनन्तानुबन्धी को सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक (अथवा प्रतिबन्धक अर्थ में ही घातक नाम देना) कहना बिल्कुल ठीक है। ये अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व का घात करती है तथा मिथ्यात्व से सम्बन्ध कराती है। (**सम्यक्त्वं घ्नन्ति अनन्तानुबन्धिनः** (उपासका, 925) **अनन्तं मिथ्यात्वं सम्बन्धयन्ति** (कार्तिकेयानुप्रेक्षा 308, तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरी 8-9)

धवला तथा गोम्मटसार के आधारभूत ग्रन्थ पंचसंग्रह (1/115) में भी लिखा है कि **पढमो दंसणघाई** अर्थात् प्रथम चौकड़ी अनन्तानुबन्धी, दर्शन (सम्यक्त्व) की घातक (प्रतिबन्धक) है। इसी का अनुकरण गो. जी. 283, गो.क. 45, पंचसंग्रह संस्कृत 1/204-5 आदि में है। धवला में भी कहा है –

एदे चत्तारि वि सम्मत्तचारित्ताणं विरोहिणो; दुविहसत्ति संजुत्तत्तादो।

अर्थात् चारों ही अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व व चारित्र दोनों की विरोधी हैं, क्योंकि अनन्ताबन्धी कषायों की शक्ति दो प्रकार की होती है। (धवला 6/42)

फिर आगे उन्होंने उसकी युक्ति से सिद्धि भी की है। अन्त में सिद्ध किया है कि अनन्तानुबन्धी की दर्शनमोहनीयता और चारित्रमोहनीयता सिद्ध है।

(**सिद्धं तस्स दंसणमोहणीयत्तं चारित्तमोहनीयत्तं च** - Ydbm 6/42)

अनन्तानुबन्धी के गये बिना तीन काल में किसी को सम्यक्त्व हुआ नहीं तथा होता नहीं। उसी प्रकार यदि सम्यक्त्वी को अनन्तानुबन्धी का उदय आ जाय (चाहे मिथ्यात्व में न भी आओ) तो भी उस जीव के सम्यक्त्व नाशित (नष्ट) हो जाता है (गो. जी. 20, पंचसंग्रह 1/9) – यह है महिमा अनन्तानुबन्धी की।

अतः प्रतिबन्धक-कारण की परिभाषा, अनन्तानुबन्धी में स्पष्टतः लागू होने से अनन्तानुबन्धी परमार्थतः चारित्रमोह की प्रकृति होते हुए अर्थात् चारित्र की घातक होते हुए भी (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 499, धर्मपुरा, दिल्ली) और इसी की मुख्यता से आगम में कथन किया जाने पर भी (**तस्य चारित्रावरणत्वात्** – धवल 1/166); बाह्य कारण (जो कि अत्यन्त समीचीन व सुघटित है) की दृष्टि से वह नियम से सम्यक्त्व की भी घातक है, प्रतिबन्धक है।

ज्ञानी जीव, अन्तरंग कारण चारित्रघात करने में तथा बाह्य कारण (सम्यक्त्व घातने में) – इन दोनों कारणों रूप दो शक्तियों के अनन्तानुबन्धी में होने का सम्मान करते हैं, एक का भी अपलाप नहीं करते; क्योंकि बाह्य कारण का अपलाप करने पर समस्त कर्म-द्रव्यों में जीव के प्रति फलदान-शक्ति, भगवान की समवसरण में दिव्यध्वनि आदि सब प्रलापमात्र सिद्ध हो जायेंगे।

शंका 3 – विसंयोजित अनन्तानुबन्धी वाला जीव, मिथ्यात्व में आने पर एक आवली काल तक उसे अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता। उस समय बँधनेवाले मिथ्यात्व-प्रत्यय कर्मों में स्थिति-अनुभाग कौन डालता है? मिथ्यात्व ही डालता है – ऐसा उत्तर ठीक है क्या? इसका आगम-प्रमाण है क्या?

समाधान – उस समय प्रथम आवली कालवर्ती जीव के अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता। (गो.क.गा. 478, धवल 8/25, पंचसंग्रह गा. 39 पृष्ठ 325 (ज्ञानपीठ) पंचसंग्रह गा. 305, पृष्ठ 438-39, गा. 329 वही ग्रन्थ, जयधवल 10/116-117, धवल 15/289 पृ. 4-5, धवल 15/81 स. 97 आदि) – यह वचन सर्वागम-सम्मत है।

उस समय अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होने पर भी मिथ्यात्व-प्रत्यय प्रकृति के बँधने में बाधा नहीं है। मिथ्यात्व-प्रत्यय (मिथ्यात्व के निमित्त से बँधनेवाली प्रकृतियाँ) प्रकृतियाँ 16 हैं - 1. मिथ्यात्व 2. हुंडकसंस्थान 3. नपुंसकवेद 4. असंप्राप्त-संहनन 5. एकेन्द्रिय 6. स्थावर 7-8-9. विकलत्रय 10. आतप 11. सूक्ष्म 12. साधारण 13. अपर्याप्त 14. नरकगति 15. नरकानुपूर्वी 16. नरकायु (गो.क. 95, धवल 7/10) परन्तु अध्रुव-बन्धी प्रकृतियाँ भी (मिथ्यात्व सिवा पन्द्रह) ऊपर लिखी हुई में से है, अतः इन उपर्युक्त 16 ही प्रकृतियों का बन्ध एक साथ तो कभी भी सम्भव नहीं; अतः उक्त 16 प्रकृतियों में से मात्र 1 मिथ्यात्व ही ध्रुव-बन्धी है, अतः मुख्यतः उसकी अपेक्षा ही तथा गौणतः शेष 15 प्रकृतियों की अपेक्षा भी नीचे कारण-विनिर्णय किया जाता है।

मिथ्यात्व प्रत्यय 16 बँधनेवाली कर्मों/ प्रकृतियों के नाम	**स्थिति-बन्ध के कारण यानी प्रत्यय**	
	मूल कारण	**विशेष कारण (विशिष्ट प्रत्यय)**
1. मिथ्यात्व	उदित कषाय (तीन या चार चौकड़ी, जो भी उदित हो)	मूल मोहनीय कर्म; जिसका कि उदय, मिथ्यात्व व कषाय के समन्वित रूप है, किसी एक रूप नहीं
	......"......	.......................".................
2. नपुंसक वेद	......"......	मूल आयुष्क कर्म; जो भी उदित हो
3. नरकायु	......"......	
4. हुंडक संस्थान	......"......	मूल नाम कर्म प्रकृति (अर्थात् 21 से लेकर 31 पर्यन्त संख्या वाले नामकर्म उदय स्थानों (गो.क. 588 से 592) में से एक उदयस्थान जो भी वर्तमान हो : उस समय उदित सकल नामकर्म प्रकृति का सामूहिक मिश्रित-अनुस्यूत उदय से संजात परिणाम) यानि नामकर्म प्रकृति समूह के उदय से संजात परिणाम।
5. असंप्राप्तः संहनन	......"......	
6. एकेन्द्रिय	......"......	
7. स्थावर	......"......	
8.9.10. विकलत्रय	......"......	
11. आतप	......"......	
12. सूक्ष्म	......"......	
13. साधारण	......"......	
14. अपर्याप्त	......"......	
15. नरकगति	......"......	
16. नरकानुपूर्वी		

(स्थिति-बन्ध के मूल कारण व विशेष कारण : इस विभाजन का आधार धवल 11, 309 अन्तिम पैराग्राफ है।)

निष्कर्ष – इस प्रकार मिथ्यात्व ही नहीं, सभी मूल प्रकृतियाँ उदित होकर स्थिति-बन्ध की विशेष कारण बनती हैं। उन उदित प्रकृतियों से जो जीव-परिणाम होवें, वे स्थिति-बन्ध के विशेष कारण हैं, यह कथनाभिप्राय है।)

उक्त चार्ट का हेतुभूत आगम निम्न है –

सव्व-मूल-पयडीणं सग-सग-उदयादो समुप्पण्ण-परिणामाणं सग-सग-ट्ठिदि-बंध-कारणत्तेण ट्ठिदि-बंधज्झवसाण-ट्ठाण-सण्णिदाणं एत्थ गहणं कायव्वं। (धवला, 11/310)

अर्थात् समस्त मूल प्रकृतियों के अपने-अपने उदय से समुत्पन्न परिणामों की ही अपनी-अपनी स्थिति के बन्ध में कारण होने से, उन्हीं की स्थिति-बन्धाध्यवसान-स्थान-संज्ञा है – ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये; अतः मात्र कषायोदय-स्थान ही स्थिति-बन्धाध्यवसान-स्थान नहीं है।

विशेष – यदि यह कहा जाय कि अनन्तानुबन्धी के निमित्त से बँधनेवाली 25 प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान वाली हैं। वे फिर मिथ्यात्वी की प्रथम आवली में कैसे बँधेंगी, क्योंकि वहाँ उस आवली-काल में 25 प्रकृतियों के बन्ध की हेतुभूत अनन्तानुबन्धी तो उससमय है नहीं?

तो इसका उत्तर यह है कि उस सम्यक्त्व से पतित प्रथम आवली कालवर्ती मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व-परिणाम तथा असंयत-परिणाम – ये दो प्रत्यय तो हैं ही। उनसे ही वह मिथ्यात्व-सम्बन्धी 16, सासादन सम्बन्धी 25 तथा असंयत सम्यक्त्व-सम्बन्धी 10 प्रकृतियों का बन्ध कर लेगा। कहा भी है –

सासादने पच्चीस-प्रकृतीनां अविरति-प्रत्ययः प्रधानभूतः। कथम्भूतः? अविरतयः कारणभूताः। (पंचसंग्रह/शतक गाथा 488, सुमतिकीर्ति की टीका)

अर्थात् सासादन-सम्बन्धी 25 प्रकृति के बन्ध का कारण अविरति है। तथा अविरति का सद्भाव आवली-कालवर्ती मिथ्यात्वी के भी होने से उस मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व, अविरति, शेष कषायें व योग से प्रथम व द्वितीय गुणस्थान सम्बन्धी प्रकृतियों का बन्ध, अनन्तानुबन्धी के उदय बिना भी हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि तो फिर अनन्तानुबन्धी की तो अकिंचित्करता सिद्ध हुई तो उसका उत्तर है कि नहीं, ऐसा नहीं है। अनन्तानुबन्धी कषाय, स्थिति-बन्ध की मूल कारणभूत कषायों में से ही एक कषाय (चौकड़ी) है, अतः उसके उदित होने पर मिथ्यात्व-सम्बन्धी एवं सासादन-सम्बन्धी आदि प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग में वर्धन या वैशिष्ट्य अवश्य होता है; क्योंकि स्थिति-बन्ध की मूल कारण कषायें हैं। (**संकिलेस विसोहिट्ठाणणिट्ठिदिबंध मूलकारणभूदाणि** – ध. 11/309) अतः मूल कारण में वैशिष्ट्य आने पर तत्कार्यभूत स्थिति आदि में भी वैशिष्ट्य होगा ही।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी के अनुदय में भी मिथ्यात्वी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी आदि का बन्ध कर लेगा।''

(– **पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर** से प्राप्त **शंका-समाधान** के आधार पर)

उक्त जवाब प्राप्त होने पर पुनः कुछ शंकाएँ, मैंने स्वयं उन्हें लिखकर भेजी थीं, परन्तु शायद उस समय उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं होने के कारण मुझे समाधान प्राप्त नहीं हुआ, लेकिन यहाँ पाठकों के समक्ष विचार-विमर्श हेतु उन्हें प्रस्तुत कर रहा हूँ –

''आदरणीय विद्वान श्री जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

सविनय जयजिनेन्द्र! आशा है आप सकुशल होंगे।

मुझे प्रवचनसार, गाथा 157 की अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका (तत्त्वप्रदीपिका) में प्रयुक्त 'क्षयोपशम' शब्द को लेकर अनेक शंकायें-प्रतिशंकायें विगत दो-ढाई साल हो रही थीं। यहाँ-वहाँ विद्वानों को लिखता रहता भी था तथा विद्वानों से पूछता रहता भी था, परन्तु कुछ ठोस समाधान अभी तक मिल नहीं पा रहा था।

इसके बाद मेरा कुछ पत्राचार, पण्डित राजमलजी जैन, भोपालवालों से हुआ तो अनायास उन्होंने मुझे आपके साथ हुए पत्राचार की प्रतिलिपि भेज दी, जिससे मेरे अधिकांश प्रश्नों का समाधान हो गया; अतः उसके लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद! अत: आपसे साक्षात् मिलने की भावना अत्यन्त बलवती हो गयी है।

...... आपके समाधान के बाद भी कुछ बातें मन में उत्पन्न हो रही हैं, जिनका समाधान भी आपसे चाहता हूँ –

1. शुभोपयोग की मर्यादा छठवें गुणस्थान तक ही है या सातवें गुणस्थान में भी शुभोपयोग जाता है या जा सकता है? क्या सातवें गुणस्थान में भी विकल्पात्मक शुभोपयोग सम्भव है या वहाँ निर्विकल्प दशा ही है। या शुभोपयोग भी निर्विकल्प होगा और यदि वहाँ निर्विकल्प अवस्था है तो वह शुद्धोपयोग ही कहलायेगा, शुभोपयोग क्यों?

2. हमारा मानना तो ऐसा है कि मुनियों को छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग और सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग ही है तथा छठवाँ गुणस्थान सविकल्पता का और सातवाँ गुणस्थान निर्विकल्पता का ही है।

3. इसी प्रकार प्रवचनसार में चरणानुयोग-चूलिका में जो दो प्रकार के मुनि कहे हैं – शुभोपयोगी तथा शुद्धोपयोगी; वहाँ भी शुभोपयोगी अर्थात् छठवाँ गुणस्थान तथा शुद्धोपयोगी अर्थात् सातवें गुणस्थानवर्ती की बात है। यदि ऐसा नहीं है तो मुनियों के उक्त दो भेद किस प्रकार हैं?

4. क्या शुद्धोपयोग के सर्वथा अभाव में भी मुनिपना सम्भव है। यदि सम्भव है तो वहाँ भावलिंग किस प्रकार घटेगा अर्थात् द्रव्यलिंगी संज्ञा प्राप्त होगी। क्या यह ठीक है?

5. शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग या शुभभाव-अशुभभाव-शुद्धभाव या शुभपरिणाम-अशुभपरिणाम-शुद्धपरिणाम या पुण्य-पाप-धर्म या शुभोपराग-अशुभोपराग-वीतराग या शुभयोग-अशुभयोग-शुद्धयोग – उक्त सभी का एक ही तात्पर्य है या कुछ अन्तर है? इस प्रश्न को इस प्रकार भी पूछ सकते हैं कि उपयोग-भाव-परिणाम-योग आदि एकार्थवाची हैं या उनमें अन्तर है। विशेषतः उपयोग और भाव में क्या अन्तर है?

6. मिथ्यादृष्टि को जिस प्रकार शुभोपयोग नहीं होता तो क्या उसे शुभभाव या पुण्यभाव भी नहीं होता। यदि होते हैं तो उसके शुभभाव या पुण्यभाव क्या अशुभोपयोग की संज्ञा पायेंगे?

7. करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग की परिपाटी के अनुसार क्या इन तीनों उपयोगों की व्याख्या अलग-अलग होगी या एक ही होगी। पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें अध्याय में भी इस विषय को उठाया है। कृपया

सविस्तार इसका खुलासा करनाजी। पण्डितजी ने तो दोनों अनुयोगों की कथन-शैली में इनका अलग-अलग दृष्टिकोण स्थापित किया है, आखिर क्यों?

8. इसी सिलसिले में इस प्रश्न पर भी विचार आवश्यक प्रतीत होता है कि चौथे गुणस्थान से भी आंशिक शुद्धोपयोग स्वीकार किया जा सकता है या नहीं?

9. चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षयोपशम-सम्यक्त्व या वेदक-सम्यक्त्व को शुभोपयोग (सराग-सम्यक्त्व) तथा क्षायिक-सम्यक्त्व या उपशम-सम्यक्त्व को शुद्धोपयोग की संज्ञा दी जा सकती है क्या? राजवार्तिककार ने तो क्षायिक-सम्यक्त्व को 'वीतराग-सम्यक्त्व' स्वीकार किया ही है, लेकिन उन्होंने भी उपशम-सम्यक्त्व को वीतराग नहीं माना है। वहाँ क्या अपेक्षा है? कृपया स्पष्ट कीजिये।

10. क्या तीन उपयोगों की व्याख्या, दर्शनमोह की मुख्यता से चर्चा नहीं की जा सकती; क्या चारित्र के साथ मिला कर ही उसकी चर्चा हो सकती है। यदि ऐसा है तो सातवें आदि गुणस्थानों में भी चारित्रमोह पूर्ण शुद्ध नहीं हुआ है, अतः वहाँ भी शुभोपयोग ही मानना पड़ेगा; शुद्धोपयोग नहीं।

11. क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती उपशम-सम्यक्त्व के प्रारम्भिक काल (करण-लब्धि) में भी शुद्धोपयोग नहीं है? क्या उसे उपशम-सम्यक्त्व या क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति मात्र शुभोपयोग परिणाम से ही हो जाती है? यहाँ प्रश्न है कि जो क्षायिक-सम्यक्त्व, सिद्धों की अवस्था तक जाता है, वह शुभोपयोग-परिणाम द्वारा कैसे हो सकता है? या वह सम्यक्त्व ही स्वयं शुभोपयोगात्मक है?

12. एक और प्रश्न यह है कि चौथे गुणस्थान में सामान्यतः चारित्र-मोह की स्थिति क्षयोपशमभाव रूप है या नहीं? क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को क्षयोपशम-चारित्र वाला नहीं कहा जा सकता है? इस प्रश्न को इस प्रकार भी पूछ सकते हैं कि अनन्तानुबन्धी-कषाय के अभाव में कुछ तो चारित्र हुआ कहना चाहिए। यदि हम कहें कि वहाँ चारित्र नहीं है तो क्या उसका चारित्र मिथ्या है? यदि नहीं तो क्या सम्यक् है? यदि नहीं तो क्या वहाँ चारित्र का पारिणामिकभाव है। तो फिर शास्त्रकार ऐसा क्यों लिखते हैं कि सम्यक्त्व के साथ ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं और उसके अभाव में मिथ्या रहते हैं। यदि वहाँ चारित्र का औदयिक-भाव मानें तो उसे मिथ्या भी मानना पड़ेगा?

13. अष्टपाहुड में चारित्र के दो भेद किये गये हैं सम्यक्त्वाचरण-चारित्र और संयमाचरण-चारित्र। वहाँ संयमाचरण-चारित्र की अपेक्षा चारित्र के क्षयोपशमादि समस्त भेद घटित हो जाते हैं, लेकिन सम्यक्त्वाचरण-चारित्र को क्षयोपशमादि भेदों में चारित्र का कौनसा भाव माना जाए? – यह विचारणीय है।

14. इसी सन्दर्भ में एक और प्रश्न है कि चारित्र और संयम एकार्थवाची हैं या कुछ भिन्नता है? क्या जहाँ-जहाँ चारित्र है, वहाँ-वहाँ संयम है और जहाँ-जहाँ संयम नहीं है, वहाँ-वहाँ चारित्र भी नहीं है?

15. इसी विषय के अनुसन्धान में एक प्रश्न यह भी है कि क्या चतुर्थ गुणस्थान के क्षायिक-सम्यक्त्व में तथा ऊपर-ऊपर के क्षायिक-सम्यक्त्व में अन्तर है?

16. सम्यक्त्व के दश भेदों के माध्यम से यह प्रश्न खड़ा होता है कि उक्त भेद मूलतः श्रद्धा-गुण से सम्बन्ध रखते हैं या अन्य गुणों का उपचार करके सम्यक्त्व के दश भेद किये गये हैं।

17. ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में सम्यक्त्व के लब्धि-स्थानों में अन्तर माना गया है क्या? यदि हाँ तो उसका क्या अर्थ है? लब्धि-स्थान के भेद से सम्यक्त्व की शुद्धि में भेद मानना उचित है क्या?

18. एक और प्रश्न – क्षायिक-सम्यक्त्व कहें या निश्चय-सम्यक्त्व; एक की ही बात है या इनमें कोई अन्तर है?

19. यदि इनमें कोई अन्तर नहीं है तो फिर निश्चय-सम्यक्त्व को निश्चय-चारित्र का अविनाभावी कैसे कहा गया है? यदि वे दोनों अविनाभावी हैं तो इनका गुणस्थान क्या होगा? कृपया समझाइये।

20. शुभोपयोग आदि उपयोग के तीन भेद, करणानुयोग-पद्धति को मान्य हैं या नहीं। यदि नहीं तो करणानुयोग-पद्धति में उपयोग की व्याख्या किस प्रकार हैं?

21. उपयोग के ज्ञान-दर्शनात्मक भेदों से इन तीनों भेदों का क्या सम्बन्ध है? यदि है तो जिस प्रकार ज्ञान-दर्शनात्मक भेदों में लब्धि-उपयोग की व्यवस्था है, उसी प्रकार शुभोपयोग आदि में भी लब्धि-उपयोग की व्यवस्था कैसे बनेगी? यदि बनेगी तो किस प्रकार बनेगी और नहीं बनेगी तो क्यों नहीं बनेगी? इसका

वर्णन किन ग्रन्थों से जानना चाहिये। धवला आदि ग्रन्थों में इस प्रकार की चर्चा है क्या? जैसे, मतिज्ञान आदि ज्ञानगुण/ज्ञानोपयोग के भेद हैं, चक्षुदर्शन आदि दर्शनगुण/दर्शनोपयोग के भेद हैं, वैसे शुभोपयोग आदि चारित्रगुण के भेद हैं; क्या ऐसा कह सकते हैं?

22. क्या शुभोपयोग आदि से श्रद्धागुण भी सम्बन्धित हैं? तथा चारित्रगुण में परिणति-उपयोग की व्यवस्था कैसे बनेग? जैसे, शुद्धोपयोग के समय परिणति में अबुद्धिपूर्वक शुभराग तथा शुभोपयोग के समय भी एक-दो-तीन कषाय-चौकड़ी के अभावरूप शुद्ध-परिणति होती है – ऐसा स्वीकार कर सकते हैं क्या? यदि हाँ तो इसका कोई आगम-प्रमाण बताइये?

23. पुनश्च शुभोपयोग के सम्बन्ध में एक शंका और भी यह है कि शुभोपयोग यदि क्षयोपशम-भाव है तो उसका दूसरा नाम मिश्र-भाव भी है तो क्या इसे मिश्रोपयोग भी कहा जा सकता है? तो फिर मिश्रोपयोग से तात्पर्य क्या होगा? मिश्रोपयोग अर्थात् राग-वीतराग का मिश्रपना शुद्ध-अशुद्ध-उपयोग का मिश्रपना मानना होगा तो क्या यह उचित होगा?

24. पुनः प्रश्न होगा कि क्या दो उपयोग एक साथ हो सकते हैं? यदि हाँ तो उसका शास्त्राधार क्या है? यदि नहीं तो मिश्रोपयोग कैसे सिद्ध होगा? इसे ऐसे भी मान सकते हैं कि यहाँ दो उपयोग मिल कर मिश्र नहीं हुए हैं, बल्कि मिश्ररूप एक ही उपयोग है, जो दोनों उपयोगों से भिन्न कोई तीसरी जाति का ही है।

25. इसमें एक शंका होती है कि यहाँ हम अंश-कल्पना (येनांशेण..... आदिरूप) कर सकते हैं क्या? तब वह अंश-कल्पना, कल्पना ही होगी या सत्य भी। यदि कल्पना है तो उससे क्या लाभ है और यदि सत्य है तो उन्हें अलग-अलग भाव ही मान लेने में क्या आपत्ति है?

26. अथवा उसमें जो शुद्ध-वीतराग-अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारण है और जो अशुद्ध-शुभाशुभ-राग-अंश है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है – ऐसा मान लेंवे अथवा मिश्ररूप भाव या उपयोग, वह सम्पूर्णरूप से आस्रव-बन्ध का भी और संवर-निर्जरा का भी कारण मानें। लेकिन ऐसा मानने पर पण्डित टोडरमलजी के इस वचन के साथ विरोध आता है कि एक ही भाव, आस्रव-बन्ध का कारण

भी हो तथा वही संवर-निर्जरा का कारण भी हो – ऐसा सम्भव नहीं है। जैसे, शुभभाव, वही स्वर्ग का भी कारण है और वही मोक्ष का भी; वही संवर-निर्जरा का भी कारण और वही आस्रव-बन्ध का भी; वही संसार का भी कारण और वही मोक्ष का भी कारण कैसे बनेगा? क्या ऐसा मानने में कारण-विपर्याय आदि दोष नहीं आयेंगे?

27. यहाँ एक प्रश्न और है कि 8-9-10 गुणस्थान तक चारित्र का कौनसा भाव है; वास्तव में यहाँ क्षयोपशमभाव ही मानना चाहिए। यद्यपि उपशम या क्षपकश्रेणी में चारित्रमोह के उपशम या क्षय का उद्यम चालू हो गया है, श्रेणी चालू है, तथापि चारित्रमोह का सम्पूर्ण उपशम या क्षय, क्रमशः 11-12 गुणस्थान में ही होता है, अतः उसके पूर्व क्षयोपशम ही मानना उचित है, फिर 8-9-10 गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग कैसे बनेगा, वहाँ भी 'शुभोपयोग' ही मानना होगा।

28. लेकिन यदि श्रेणी में भी शुभोपयोग मानेंगे तो आचार्यों ने तो शुद्धोपयोग कहा हैं। क्या यहाँ बुद्धिपूर्वक उपयोग शुभ है या शुद्ध है, इससे निर्णय करेंगे? या शुद्धोपयोग की ओर उन्मुख होने से उसे शुभोपयोग मानेंगे?

29. यदि हम कहते हैं कि वहाँ बुद्धिपूर्वक राग का सद्भाव नहीं होने से शुद्धोपयोग माना गया है तो प्रश्न यह है कि 4-5-6 गुणस्थान में भी यदा-कदा सामायिक के काल में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से कभी-कभी शुद्धोपयोग मानना योग्य है।

30. यदि हम कहें कि वहाँ अधिकांशतः बुद्धिपूर्वक राग का सद्भाव होने से अधिकांशतः शुद्धोपयोग नहीं है तो हमें ऐसा ही मानना चाहिये। 4-5-6 गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही नहीं – ऐसा नहीं मानना चाहिये।

31. हम ऐसा भी कह सकते हैं कि 4-5-6 गुणस्थान में मुख्यता से शुद्धोपयोग नहीं है, शुभोपयोग है अथवा गौणरूप से शुद्धोपयोग भी है।

32. इसी प्रकार आगे के 7 से 10 गुणस्थान तक मुख्यतया शुद्धोपयोग है और गौणता से शुभोपयोग है तथा 11-12 गुणस्थान में मुख्य-गौण का प्रश्न ही नहीं है अर्थात् शुद्धोपयोग ही है, शुभोपयोग बिल्कुल नहीं।

33. अथवा क्षयोपशभाव की स्थिति में जो अंश उपशम या क्षय के हैं,

उतना शुद्धोपयोग तथा जो अंश देशघाति के उदयरूप हैं, उतने अंश में शुभोपयोग हैं – ऐसा मानना चाहिए, अर्थात् जहाँ जैसा योग्य है, उसी अनुपात में आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा की भी व्यवस्था मानना चाहिए।

इस प्रकार बहुत सारी शंकायें-प्रतिशंकायें उत्पन्न होती हैं, जिनका समाधान नहीं हो पा रहा है। आपसे प्रत्युत्तर की अपेक्षा है।'' (इसी लेख में आगे जाकर हमने स्वयं 33 वर्ष के बाद इन प्रश्नों का उत्तर खोजने की कोशिश की है।)

दिनांक : 11-2-94 **– राकेश जैन शास्त्री,** नागपुर

इसी पत्र को हमने **ब्र. हेमचन्दजी भोपाल** को भी प्रेषित किया था, उनसे हमें अत्यन्त प्रेरणादायी जवाब प्राप्त हुआ था, जिसे यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं –

''**प्रिय धर्मभ्राता आत्मार्थी श्री डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य**

सविनय जयजिनेन्द्र! सह शुद्धात्म-स्मरण!!

शोभित निज-अनुभूतियुत चिदानन्द भगवान।
सार पदारथ आत्मा सकल पदारथ जान॥

अत्र स्वाध्यायामृत-बलेन कुशलं! तत्राप्यस्तु!!

...... आपकी जिनागम-प्रमाण से जीवादि सप्त तत्त्वों को निश्चय (भूतार्थ/सत्यार्थ) एवं व्यवहार (अभूतार्थ/उपचार) दृष्टियों से समझने की तीव्र रुचि प्रशंसनीय/अनुकरणीय है। ...... मुझे अन्तरंग हृदय से यह देख कर, अच्छा लगता है कि आप अनुयोगों से दोष-कल्पनाओं का निराकरण करते हुए समाधान प्राप्त करने हेतु उत्सुक हैं एवं जिनवाणी का निरन्तर स्वाध्याय-चिन्तन-रसपान करते रहते हैं? मेरी मन्द-बुद्धि में आज तक जिनवाणी के स्वाध्याय एवं विभिन्न मनीषियों के चिन्तन व प्रवचनों के माध्यम से यही निष्कर्ष हाथ लगा है कि –

1. शुभाशुभभावों/शुभाशुभोपयोग का उत्पन्न होना, मिथ्यात्व नहीं है।
2. समस्त परद्रव्य-परभावों से भिन्न निज-ध्रुव-ज्ञानानन्दमयी आत्मा में निजरूप-रुचि, प्रतीति, श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना सम्यक्त्व-लाभ नहीं हो सकता है।
3. सम्यक्त्व/ज्ञान-लाभ हुए बिना मुक्ति-मार्ग (अथवा सम्यक्चारित्र) प्राप्त नहीं हो सकता है।

4. जिनागम के अनुसार आठों कर्मों में मात्र मोहनीय-कर्म का पूरा परिवार (दर्शनमोहनीय + चारित्रमोहनीय) ही जीव को मन्द-तीव्र स्थिति-अनुभाग-बन्ध का हेतु है।
5. संक्षेप में मिथ्यात्व, कषाय (अविरति, प्रमाद, कषाय) एवं योग - यह तीन मूल द्रव्य-भाव-प्रत्यय ही जीव को कर्म-बन्ध के हेतु हैं।
6. शुभ-अशुभ कषाय-भावों से साता-असातादि प्रकृतियों का बन्ध एवं आत्मगुण-घातक-घातिकर्मों का भी बन्ध होता है निरन्तर।
7. मिथ्यात्व एवं द्वेष (एकान्त से) अशुभभाव ही हैं, जबकि राग, शुभ-अशुभ दोनों प्रकार का होता है और समस्त ही शुभाशुभभाव, कर्मास्रव-बन्ध के हेतु हैं अर्थात् मोह (मिथ्यात्व), राग-द्वेषभाव से ही स्थिति-अनुभागबन्ध होता है। (देखें, प्रवचनसार गाथा 180 ता.वृ. टीका)
8. मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि (व्रती-अव्रती) दोनों को यथायोग्य भूमिकानुसार/कर्मोदयानुसार शुभोपयोग-अशुभोपयोग हुआ करते हैं।
9. समस्त संसारी जीवों को बन्ध के 5 प्रत्ययों की मन्दता-तीव्रतानुसार ही नवीन द्रव्यकर्मों का मन्द-तीव्र आस्रव-बन्ध हुआ करता है।

   तथा जिस जीव (सम्यक्त्वी) के जो-जो प्रत्यय चले गये हैं (नष्ट हो गये हैं) उन-उनके निमित्त से होनेवाला आस्रव-बन्ध रुक जाता है, भले वे अशुभ-शुभ-शुद्ध उपयोगरूप परिणमन कर रहे हों।
10. काया और कषायभावों में एकत्व-बुद्धि होना ही निश्चय से मिथ्यात्व है।
11. असमान-जातीय-द्रव्यपर्याय में एवं व्रतादिरूप मन्द-प्रशस्त-कषाय में एकत्वरूप उपादेय-बुद्धि का होना ही प्रकारान्तर से (देव-गुरु-धर्मादि की सच्ची व्यवहार-श्रद्धा होने पर भी) सूक्ष्म-मिथ्यात्व है, जो निज-ध्रुव-चैतन्य-तत्त्व के अवलम्बन से छूट सकता है। (पंचास्तिकाय गा.165 टीका)
12. जीव के असाधारण पाँच भावों - औपशमिक, क्षायिक, मिश्र-क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (जीवत्व) - इनमें से मात्र मोहोदय सहित औदयिकभाव ही बन्ध के कारण हैं।

13. औपशमिक एवं क्षायिकभाव, पूर्णतः निर्मल भाव/परिणाम/पर्याय है, जबकि औदयिक पूर्णतः समल/मलिन/भाव/परिणाम/पर्याय है। क्षायोपशमिकभाव, मिश्रभाव/परिणाम/पर्याय है; उसमें सर्वघाति-प्रकृतियों के अनुदय/सदवस्थारूप उपशम से निर्मलता सहित एवं देशघाति-प्रकृतियों के उदय के निमित्त से किंचित् मलिनता सहित जो एक मिश्रभाव/परिणाम /पर्याय होती है, उसकी क्षायोपशमिकभाव संज्ञा है।

पारिणामिक भाव, इन चार भावों/पर्यायों से भिन्न (अताद्‌भाविक भिन्नता) वाला अनादि-अनन्त एकरूप द्रव्य-स्वभाव है, वह उत्पाद-व्यय रहित एक द्रव्यरूप ध्रुव शाश्वत भाव है। यही एकरूप शाश्वत वर्तता पारिणामिकभाव (शुद्ध- जीवत्वभाव) ध्येय, ज्ञेय, श्रद्धेय कहा है।

14. उक्त एक पारिणामिक (शुद्ध-जीवत्व) भाव एवं चार पर्यायभाव (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक) में मात्र अताद्‌भाविक-अन्यत्व होता है, प्रदेश-भिन्नतारूप पृथक्त्व नहीं अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय – ये तीनों एक अभेद सत्तारूप ही रहते हैं।

15. औपशमिकभाव (सम्यक्त्व) के बिना मोक्षमार्ग/धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

16. पारिणामिकभाव, व्यक्त पर्याय की शुद्धता-अशुद्धता के व्यवहार से शून्य (रहित) होता है; अतः बन्ध-मोक्ष की कल्पना-विरहित एक सद्रूप-चिद्रूप-तद्रूप भाव है।

तत्त्वं साल्लक्षणिकं, सन्मात्रं वा यतः वा स्वतःसिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं, स्वसहायं निर्विकल्पं च।।

(पंचाध्यायी 8)

17. एक अभेद-सत्-द्रव्य में (गुण-पर्ययवद्-द्रव्यम्) गुणों व पर्यायों (तिर्यक्-प्रचय व ऊर्ध्वप्रचय) का भेद (अताद्‌भाविक भेद होने से) समझने के लिए ही किया जाता है। वस्तुतः द्रव्य, एक अभेद सत् है। गुणों और पर्यायों का आधार, एक द्रव्य ही है।

18. गुणस्थान, मोह+योग - निमित्तक ही होते हैं और ये ही (मोह+योग) कर्म-बन्ध के कर्ता-करण हैं अर्थात् मोहोदय सहित परिणाम ही बन्ध-साधक हैं।

19. जैसे, चारित्र-मोहोदय-जन्य विभावभाव (कषाय) की मन्दता-तीव्रता कर्म-बन्ध की स्थिति-अनुभाग की नियामक/निर्णायक होती है; वैसे ही दर्शन-मोहोदय-जन्य विभाव-भाव (मिथ्यात्व) की मन्दता-तीव्रता भी कर्म-बन्ध की स्थिति-अनुभाग की नियामक कारण है। अन्यथा गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का कोई अर्थ (आत्मा का अहित करने में) नहीं रह जायेगा।

सरागी देवों (क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि) को भजनेवाला जैन एवं मात्र वीतरागी देवों को भजनेवाला जैन, एक सदृश-परिणाम (लेश्या) वाले हों तो क्या दोनों को एक-सा ही कर्म का स्थिति-अनुभाग बन्ध पड़ेगा? - यह तर्क विचारणीय है; इसे गौण करना, मिथ्यात्व-पोषक है।

20. जैसे, औदयिक (मलिन) पर्याय, बन्धकारक है, वैसे ही क्षायोपशमिक-पर्याय (दर्शन-चारित्र-मोहापेक्षा) में जो समल-अंश है, वह भी आस्रव-बन्ध का कारक है और जो निर्मल-अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारक है; इसीलिए इसे 'मिश्रभाव' भी कहा है।

21. इस एक क्षायोपशमिक मिश्रभाव/परिणाम/चारित्र पर्याय से आस्रव-बन्ध -संवर-निर्जरा मानना योग्य नहीं, उपचार-कथन हो सकता है, परमार्थ-कथन कदापि नहीं; फिर तो अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि-जीवों के भी जो शुभोपयोग होता है तो उससे भी संवर-निर्जरा मानना पड़ेगी, जो आगम-विरुद्ध है, मिथ्यात्व-पोषक है।

22. जो निर्विकल्प-समाधिरूप शुद्धोपयोग से भ्रष्ट हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि हैं। 4-5-6वें गुणस्थानवर्ती हैं, शुभोपयोगी हैं (या कदाचित् अशुभोपयोगी भी हों) तब भी उन्हें सविकल्प-दशा वाला सम्यग्दृष्टि ही कहा है, न कि बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि।

23. जब 6वें गुणस्थानवर्ती मुनिराज, जो कि (प्रमत्तावस्थारूप, महाव्रतादिरूप सराग-सकल-चारित्र के पालनेरूप) सविकल्पदशारूप उत्कृष्ट शुभोपयोग–रूप परिणमित हो रहे हैं, क्या तब भी उन्हें 'बहिरात्मा/मिथ्यादृष्टि' कहा जा सकता है? - कदापि नहीं। हाँ, स्वभाव-लीनतारूप शुद्धोपयोगदशा (निर्विकल्प-समाधिरूप दशा) से च्युत होकर शुभोपयोगरूप सविकल्प-

दशा में आ जाने से उन्हें बहिर-अवस्थित या अन्तर्बहिर-जल्प में स्थित भले कहा जा सकता है, किन्तु बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कदापि नहीं।

क्या राजा श्रेणिक (क्षायिक सम्यक्त्वी) के जीव (नारकी) को बहिरात्मा कहा जा सकता है?

24. जो धर्म करना चाहता है, उसके लिए प्रथम शर्त यह है कि उसे अपने प्रति पूर्ण ईमानदार सत्यभाषी एवं संसार-परिभ्रमण के कारणों से पूर्णतः भयभीत होना, अत्यन्तावश्यक है। दिखावटी, बनावटी, सजावटी धर्म से कोसों दूर रहना परमावश्यक है।

25. आज जो धार्मिक व्यक्ति सदाचारी पापभीरू हैं, उन्हें मानार्थी/लोभार्थी वक्ता एवं श्रोता कह कर, राजनीतिरूप माया-प्रपंच-जाल फैलाकर, अधार्मिक सिद्ध किया जा रहा है एवं स्वयं सदाचारी न होने पर भी धनमद आदि के बल पर धर्मात्मा कहलाने का ढोंग किया जा रहा है।

बाड़ खेत खाने लगी, पंच करें अन्याय।
उदासीन राजा भये, न्याय कौन पै जाय।।

26. व्यवहारी-जीवों को व्यवहार-धर्म ही शरण होता है अर्थात् शुभाचरण छोड़ कर, निःशंक पापरूप प्रवृत्ति रखना (अशुभोपयोगी रहना) योग्य नहीं है। ऐसा नहीं माननेवाला व्यक्ति, नरक-निगोदगामी होता है।

(मो.मा.प्र. पृष्ठ 203 से 205, 253)

27. आगमानुकूल व्यवहार व्रतों का पालने वाला (विकल/सकल संयमधारी) जीव, पूज्यपने को प्राप्त होता है, किन्तु वही तत्त्व समझने की विशेष जिज्ञासा न होने से अथवा अध्यात्म-रसास्वादी धार्मिक मुमुक्षु जीवों के प्रति ईर्ष्याभाव रखने से मात्र व्यवहाराभासी होकर संसार में ही परिभ्रमण करनेवाला होता है।

28. इसी प्रकार आगमानुकूल संयम/संयमासंयम पालने वालों के प्रति जिसके मन में आदरभाव नहीं हो, वह सच्चा मुमुक्षु नहीं हो सकता, वह मात्र शुष्क ज्ञानी है।

29. जो इस नर-पर्याय एवं जिनधर्म की उत्कृष्टता पहिचान लेता है, वह अपने

ज्ञान को गिरवी नहीं रख कर, धर्म का मर्म जान कर, स्वयं में धर्म प्रगट करने का अप्रतिहत पुरुषार्थ जागृत कर लेता है। जो किसी सम्प्रदाय, संघ या व्यक्ति से बँध जाता है, उसे सत्य पाने में भारी कठिनाई होती है, शायद पर्याय पूर्ण होने तक धर्म का स्वाद (सहज शान्ति, निराकुलत्व-लक्षण अतीन्द्रिय-आनन्दानुभूति) नहीं ले पाता है और खाली हाथ ही अगले भव में चला जाता है।

30. जिसे मात्र व्यवहार धर्म की रुचि तो हो गई और निश्चय वीतरागधर्म की चाह नहीं होती, अथवा तत्त्व-निर्णयपूर्वक मिथ्यात्व का निर्वाण नहीं करता, उसे संसार का अन्त नहीं आता।

शुभकर्म जोग सुघाट आया, पार हो दिन जात हैं,
'द्यानत' धर्म की नाव बैठो, शिवपुरी कुशलात हैं।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-व्रत – इन बिन मुक्ति न होय,
अन्ध पंगु अरु आलसी, जुदै जलै दव लोय।।

उक्त समस्त तात्त्विक पृष्ठभूमि में मैं समग्र दि. जैन समाज की एकता एवं संगठन का हृदय से पक्षधर हूँ। दिनांक 20-9-94 को मेरी आचार्य श्री विद्यासागरजी से हुई तत्त्वचर्चा से मुझे लगा कि आचार्यश्री भी यही चाहते हैं कि समग्र दि. जैन समाज एक हो धर्म की महती प्रभावना करें, परन्तु आचार्यश्री के मन में सोनगढ़, जयपुर (टोडरमल स्मारक आदि) के बारे में गम्भीर गलत-फहमियाँ (Misunder-standings) बन गई हैं, जो दूर करने योग्य हैं –

जैसे, (1) मुमुक्षु मण्डल के सदस्य/व्यक्ति गोम्मटसार, हरिवंशपुराणादि आगम ग्रन्थों का बहिष्कार करते हैं/निष्कासन कर देते हैं। जबकि गोम्मटसार की टीका (सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका) पण्डित टोडरमल स्मारक से ही प्रकाशित हुई हैं एवं स्वाध्याय-प्रेमी उसे भी अत्यन्त चाव से पढ़ते हैं। सत्य बात तो यह है कि कोई भी मुमुक्षु-बन्धु, प्रत्येक पूर्ववर्ती दिगम्बराचार्यों की कृतियों को गले लगाता है, परम आदरभाव से उन्हें देखता है, उनका स्वाध्याय करता है।

(2) सोनगढ़/जयपुर वाले देव-शास्त्र-गुरु की उपासना/पूजा को भी पाप बतलाते हैं; जबकि वे लोग नियमितरूप से भक्ति-भाव से पंच-परमेष्ठी भगवन्तों

की प्रतिदिन उपासना/पूजन करते हैं।

(3) सोनगढ़, जयपुर से छपे शास्त्रों में तत्त्व-विरुद्ध प्ररूपणा होती है – जैसे, उसमें शुभोपयोग को हेय बतलाया है, अधर्मभाव तक कहा है; अतः इस विषय का आगम-अध्यात्म के आलोक में हम निर्णय करते हैं –

श्री योगीन्दुदेव ने योगसार में 'पुण्यतत्त्व भी पाप है, बिरला जाने कोय।' – ऐसा लिखा है, जिसका मतलब है कि राग (शुभ से भी) वीतराग (शुद्धभाव) नहीं प्रगटता; क्योंकि रागभाव, वीतरागभाव (धर्म) का प्रतिपक्षी है।

रागभाव से बन्ध एवं वीतरागभाव से निर्बन्धता (संवर-निर्जरा) होती है; अतः श्रद्धान को सम्यक् बनाने के लिए ज्ञान में सर्वप्रथम यह दो टूक निर्णय होना चाहिये कि 'शुभ हो या अशुभ-कामना, राग, बन्ध की डोरी है, आकुलता की पोरी है।'

हाँ, यह बात जरूर है कि जब भी शुद्ध/वीतरागभाव प्रगटेगा, वह शुभोपयोग-पूर्वक ही प्रगटेगा; अतः उपचार से शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण कहा जाय तो बाधा नहीं, किन्तु इस व्यवहार-कथन को ही परमार्थ/निश्चय-कथन या कारण न मान लिया जाए, अन्यथा तत्त्व-विरुद्धता होगी, क्योंकि यदि शुभास्रव-बन्धभाव को ही संवर-निर्जरा मान लिया जाएगा तो वीतरागभाव की पहिचान ही खो जाएगी अर्थात् अतत्त्व-श्रद्धान ही बना रहेगा; अतः आचार्यश्री को मुमुक्षुओं के सम्बन्ध में उक्त भ्रम दूर कर लेना चाहिए।

यद्यपि सोनगढ़-जयपुर-विचारधारा वाले विद्वानों में अध्यात्म-ग्रन्थों के अभ्यास में विशेष रुचि देखी जाती है, क्योंकि 'आत्मा' को ही समझना है और आत्माओं को ही समझाना है, न कि जड़-कर्मों को; फिर भी वे ज्ञान की निर्मलता हेतु सभी आगम-अध्यात्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करते ही हैं।

मेरी दृष्टि में आचार्यश्री की समूचे दि. जैन समाज की एकता की परिकल्पना तब तक पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक वे सोनगढ़-जयपुर से प्रकाशित आगम-अध्यात्म ग्रन्थों का जिन-मन्दिरों से हो रहे निष्कासन को नहीं रुकवाते। आज पूरे भारतवर्ष को आचार्यश्री के प्रति (उनकी संयम एवं तत्त्वाभ्यास/स्वाध्याय के प्रति दृढ़ता के कारण) गर्व एवं आदरभाव है, किन्तु जब तक वे मिथ्यात्व की

अकिंचित्करता, शुभोपयोग को संवर-निर्जरा स्वरूप मानने एवं सोनगढ़/जयपुर से छपे शास्त्रों के बहिष्कार/निष्कासन का समर्थन करते रहेंगे, तब तक एकता सम्भव नहीं है।

यद्यपि जिनवाणी के अविनय, बहिष्कार, निष्कासन की पीड़ा/वेदना आचार्यश्री को भी है तो फिर वे सन् 1977-78 की भाँति एक आदेश/उपदेश/सन्देश, समाज के नाम से क्यों नहीं पुनः निकाल देते हैं, जिससे अभी इसी वर्ष आरोन (गुना, म.प्र.) में उनके ही शिष्यगणों द्वारा सोनगढ़/जयपुर साहित्य को मन्दिरजी से निकलवाये जाने की घटना की पुनरावृत्ति नहीं हो।

मैं भी आगम-अध्यात्म ग्रन्थों के अभ्यास में अन्तःकरण से तीव्र रुचि रखता हूँ और निष्पक्षभाव से तत्त्वार्थों का स्वरूप समझना चाहता हूँ। जो अभी तक 1966 से 1994 तक 28 वर्षों में मैंने सत्समागम द्वारा जो तत्त्वज्ञान-श्रद्धान सम्पादित किया है, उसमें कहीं भी मूल में भूल नहीं दिखाई दी। व्यवहार-चारित्र भी (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों की अनुकूलता अनुसार) धारण करने की तीव्र इच्छा/भावना है।

एतदर्थ विभिन्न धर्मायतनों में जा-जाकर देखा तो कहीं अकेले ज्ञान/अध्यात्म-प्रधान-शैली ही मुख्य/सर्वस्व हो रही है और कहीं व्यवहार-क्रिया-आचरण/आगम-प्रधान-शैली ही मुख्य/सर्वस्व हो रही है; इस प्रकार दोनों ओर खींच है। कहाँ जाया जाये? पण्डित बनारसीदासजी का छन्द याद आता है –

जो बिनु ज्ञान क्रिया अवगाहै, जो बिनु क्रिया मोक्ष पद चाहै।
जो बिनु मोक्ष कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढ़नि में मुखिया।।

इसी प्रकार श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत 'आत्म-सिद्धि' में भी एक पद है –

कोई क्रिया जड़ थई रहा, शुष्क ज्ञान मां कोई।
माने मारग मोक्ष नो, करुणा उपजै जोई।।

आचार्यकल्प पण्डित-प्रवर टोडरमलजी ने हम साधारण बुद्धि जीवों के हितार्थ अपने जीवन का उत्सर्ग/बलिदान कर, जिनागम का सार समझाने वाला चारों अनुयोगों के कथनों में परस्पर सामंजस्य स्थापित कर, दोष कल्पनाओं का निराकरण देने वाला, अपूर्व ग्रन्थ श्री मोक्षमार्गप्रकाशक लिखा है; उसे जो 'पण्डित'

का ग्रन्थ बतला कर, उपादेय नहीं मानते, वे भी कहीं न कहीं मिथ्यात्व भाव के शिकार/पोषक हैं – ऐसा समझना चाहिए। अस्तु!

20-9-94 को आचार्यश्रीजी ने जो मुझ पर अनुकम्पा कर, मुझे अपना अमूल्य समय तत्त्व-चर्चार्थ प्रदान किया था, तदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी एवं कृतज्ञ हूँ। मेरी भावना है कि यदि वे ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार तथा अष्टपाहुड़, इन ग्रन्थों का, उन पर उपलब्ध सभी आचार्यों की टीकाओं का स्वाध्याय, आदि से अन्त करा देवें, उसका प्रारम्भ करें और अपनी ओर से कुछ भी नहीं जोड़ें तो मैं भी समय निकाल कर, उस स्वाध्याय-वाचना में पूरे समय उपस्थित रह कर स्वाध्याय करना चाहूँगा।

अपनी ओर से कुछ भी नहीं जोड़ने की बात से मेरा तात्पर्य मात्र इतना ही है कि जिस प्रकार प.पू. जयसेनाचार्यदेव ने आगम एवं अध्यात्म दोनों भाषाओं/विवक्षाओं से टीकाएँ लिखी हैं, समझाया है; अतः वही हम सबको सर्वमान्य होना चाहिए।

उक्त आध्यात्मिक ग्रन्थों के अलावा मेरी भावना आगम ग्रन्थों गोम्मटसार, धवला, जयधवला आदि के भी विस्तार से पढ़ने की है, किन्तु इसके लिए करणानुयोग-विशेषज्ञ चाहिये, समय चाहिये, श्रम चाहिये। शाब्दिक परिभाषाओं का ज्ञान भी चाहिये। श्री गुरु गोपालदासजी बरैया रचित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका से काफी कुछ सामान्य जानकारी शाब्दिक परिभाषाओं की हो जाती है; अत–: घर पर जितना बन पाता है, उतना स्वाध्याय किया ही करता हूँ।

चर्चा में यदि कुछ भूल, अपराध (प्रमादजन्य) हुए हों, उन सबके लिए मैं आचार्यश्री से एवं आपसे भी हृदय से क्षमा चाहता हूँ।''

आपका अपना

दिनांक : 11-4-94 **ब्र. हेमचन्द जैन,** भोपाल/देवलाली

इस पत्र-व्यवहार के बाद मेरा कुछ परिचय **आदरणीय पण्डित रतनलालजी शास्त्री,** इन्दौरवालों से भी हुआ तो मैंने उन्हें उक्त पत्राचार की एक कॉपी प्रेषित की, साथ ही कुछ और प्रश्न भी उन्हें भेजे, जो निम्न प्रकार हैं –

"आदरणीय पण्डित रतनलालजी शास्त्री, इन्दौर

सादर जय जिनेन्द्र!

..... पण्डित राजमलजी भोपाल का पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर के साथ हुए पत्र-व्यवहार की प्रतियाँ आपको भेज रहा हूँ। आशा है, इनका आलोडन करने के बाद मेरी शंकाओं का समाधान आप अवश्य करेंगे। ये शंकाएँ, मैंने पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर को भी सन् 1994 में भेजी थीं। उस समय उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था, इसलिए मुझे उनका जवाब प्राप्त नहीं हो सका, इस पत्र की भी अविकल प्रति आपको भेज रहा हूँ। कृपया आप इस विस्तृत शंका का समाधान विस्तार से किसी एक लेख के माध्यम से करेंगे तो अवश्य ही मेरा तथा मुमुक्षु समाज का बहुत लाभ होगा।

1. प्रवचनसार गाथा 157 की टीका में आता है - **जो उपयोग, विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने तथा शुभ-उपराग का ग्रहण करने से, परमेष्ठी की श्रद्धा तथा सर्व जीवदया में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है।**

- क्या इसका अर्थ, यह कर सकते हैं कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की क्षयोपशमदशा में जो देशघाति-स्पर्द्धकों का उदय रहता है, उसके निमित्त से होनेवाले उपराग को यहाँ 'शुभोपयोग' कहा है? जैसे, क्षयोपशम-सम्यक्त्व को सराग-सम्यक्त्व या पण्डित टोडरमलजी के शब्दों में कहें तो जिससे समल-तत्त्वार्थ-श्रद्धान कहा गया है, जहाँ देशघाति सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय के कारण सम्यक्त्व-सम्बन्धी चल-मल-अगाढ आदि दोष होते हैं, वह क्षयोपशम-सम्यक्त्व है; उसी प्रकार क्षयोपशम-चारित्र या सराग-चारित्र के अन्तर्गत होनेवाली देशघाति संज्वलन-कषाय के निमित्त से बुद्धिपूर्वक व्रतादि का राग होता है, उसी राग की यहाँ 'शुभोपयोग' संज्ञा है।

2. उक्त सन्दर्भ में ही एक और महत्त्वपूर्ण आगम-प्रमाण (पंचास्तिकाय, गाथा 138 की आचार्य अमृतचन्द्रकृत समयव्याख्या टीका) पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत हो रहा है, जिसमें कहा गया है कि **विशिष्ट कषाय का क्षयोपशम, अज्ञानी को भी होता है** - इसका अर्थ क्या है?

मूल ग्रन्थ का निम्न उद्धरण देखें -

चित्त-कलुषत्व-स्वरूपाऽऽख्यानमेतत् - क्रोध-मान-माया-लोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभः कालुष्यम्। तेषामेव मन्दोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम्। 'तत् कादाचित्क-विशिष्ट-कषाय-क्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति।' कषायोदया -ऽनुवृत्तेरसमग्र-व्यावर्तितोपयोगस्याऽन्तर-भूमिकासु कदाचित् ज्ञानिनोऽपि भवतीति।

अर्थात् यह चित्त की कलुषता के स्वरूप का कथन है - क्रोध, मान, माया, और लोभ के तीव्र उदय से चित्त का क्षोभ, सो कलुषता है। उन्हीं के मन्द उदय से चित्त की प्रसन्नता, सो अकलुषता है। वह अकलुषता, कदाचित् कषाय का विशिष्ट (खास प्रकार का) क्षयोपशम होने पर, अज्ञानी को होती है; कषाय का अनुसरण करनेवाली परिणमन में से उपयोग को पूर्ण विमुख न किया हो, तब (अर्थात् कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाले परिणमन में से उपयोग को पूर्ण विमुख न किया हो तब) मध्यम भूमिकाओं में (मध्यम गुणस्थानों में) कदाचित् ज्ञानी को भी होती है। (पंचास्तिकाय, गाथा 138 की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका)

इस प्रकरण के अनुसार **क्या अज्ञानी को भी क्षयोपशमभाव होता है?**

3. इसी प्रकार प्रवचनसार गाथा 9 की तात्पर्यवृत्ति में कहा है -

मिथ्यात्वा-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योग-पंच-प्रत्यय-रूपाऽशुभोपयोगेना-ऽशुभो विज्ञेयः।

अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - इन पाँच प्रत्यय-रूप अशुभोपयोग से परिणत जीव को अशुभ जानना चाहिए।'

यहाँ प्रश्न है कि मिथ्यात्व को छोड कर, अविरति-प्रत्यय तो सम्यग्दृष्टि एवं पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक को भी होता है, प्रमाद-प्रत्यय तो भावलिंगी मुनिराज को भी छठे गुणस्थान में होता है, कषाय-प्रत्यय तो श्रेणी-आरोहण करनेवाले तपस्वियों को भी होता है, योग-प्रत्यय तो अरहन्त-अवस्था में भी होता है तो क्या इन सबको भी अशुभोपयोग माना जाएगा तथा अरहन्तादि अवस्थाओं को प्रत्ययों के कारण में भी अशुभ मानना उचित है क्या? यदि नहीं तो इस प्रकरण का अर्थ/मन्तव्य क्या निकाला जाए?

क्षयोपशम भाव के सम्बन्ध में निष्कर्ष

सन् 1994 के बाद इतने वर्षों के अध्ययन-चिन्तन-मनन एवं अनेक विशेषज्ञ-विचारणाओं के आधार पर उक्त समस्त प्रश्नों के सम्बन्ध में यही प्रतीत होता है कि हमें नय-दृष्टि एवं स्याद्वाद का प्रयोग करके ही अपनी सभी जिज्ञासाओं का समाधान खोजना चाहिए, अन्यथा सरल से सरल शंका का समाधान करना भी मुश्किल हो जाता है।

हमें अभेदवृत्ति-अभेदोपचार एवं भेदवृत्ति-भेदोपचार की विवक्षाओं को समझना होगा। अत: सीधे-सीधे हम कह सकते हैं कि यदि क्षयोपशमभाव का अभेदवृत्ति-अभेदोपचार से विचार किया जाए तो मिश्रभाव होने के कारण उसे कर्म के आस्रव -बन्ध एवं संवर-निर्जरा, सभी का निमित्त-कारण कह सकते हैं, लेकिन यदि उसका विचार भेदवृत्ति-भेदोपचार से किया जाए तो हमें स्पष्टत: अंश-कल्पना करना ही श्रेयस्कर होगा अर्थात् जितना-जितना सर्वघाति-स्पर्द्धकों के क्षयोपशम-निमित्तक-शुद्धभाव है, उतना-उतना संवर-निर्जरा का हेतु है और जितना-जितना देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय-निमित्तक अशुद्धभाव है, उतना-उतना आस्रव-बन्ध का हेतु है।

(**येनांशेन सुदृष्टिः** .....इत्यादि, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, आचार्य अमृतचन्द्र)

अब यदि व्यवहारनय की अपेक्षा उपचार-कथनों का विचार किया जाए तो मिश्रभाव होने से विकारी-अविकारी दोनों अंशों में परस्पर व्यवहार-प्रति-व्यवहार करने की प्रवृत्ति भी अनुचित नहीं है। जैसे, सम्यग्दर्शन, जो निश्चय से मोक्ष का कारण है, उसे स्वर्गादि पुण्य-बन्ध का कारण कहना, व्यवहार है। (**सम्यक्त्वं च** – तत्त्वार्थसूत्र, 6/21)। अथवा व्रतादि का शुभभाव, जो निश्चय से पुण्य-बन्ध का कारण है, उसे मोक्ष का कारण कहना, व्यवहार है। (**स गुप्ति-समिति-धर्माऽनुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः** – तत्त्वार्थसूत्र, 9/2)। इस प्रकार जिनागम में प्रयुक्त ये सब व्यवहारनय के ही प्रयोग हैं।

यहाँ यह भी नहीं समझना चाहिए कि उक्त व्यवहार-कथन सर्वथा असत्य ही हैं, उनके प्रयोगों में भी सकारणता है, अकारणता नहीं। उसके कारण, ज्ञानियों की 4-5-6 गुणस्थान की विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग अपेक्षाओं से अलग-अलग स्थितियाँ घटित होती हैं।

जैसे, तीन कषाय-चौकडी का अभाव करनेवाले भावलिंगी मुनिराजों का ही वह वीतरागभाव है, जो मुक्ति का कारण होने पर भी अपूर्ण होने से साक्षात् मुक्ति का कारण नहीं हो पाता, अत: विद्यमान कषायांश के कारण वे स्वर्गादि का पुण्य बाँध कर, स्वर्ग जाते हैं, अत: उनके अपूर्ण वीतरागभाव को भी किंचित् राग की विद्यमानता के कारण स्वर्गादि का कारण कह दिया जाता है।

इसी प्रकार वे ही धर्मात्मा साधक, जिन्होंने अवशिष्ट राग के कारण पुण्य-बन्ध किया है, वे अपनी अपूर्ण वीतरागता को पूर्ण करके अर्थात् अवशिष्ट राग का भी अभाव करके कालान्तर में मुक्ति करते हैं, अत: उनके उस अवशिष्ट राग को भी परम्परा से मोक्ष का कारण कह दिया जाता है। इस प्रकार व्यवहार-वचनों के मर्म को समझा जा सकता है।

पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर को 11.2.1994 के पत्र में मैंने स्वयं जो पूर्वोक्त 33 प्रश्न लिखे थे, उनके उत्तर तो उनके द्वारा तब मुझे प्राप्त नहीं हो सके थे, परन्तु इतने वर्षों के अन्तराल एवं स्वाध्याय के वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय आदि अंगों के आधार पर अपनी बुद्धि-अनुसार, उसी क्रम में निम्न प्रकार से समाधान करने का प्रयास करता हूँ। यद्यपि इसमें गलती होने की पूरी संभावना है, अत: विद्वज्जनों से निवेदन है कि वे मेरी भूल सुधारने की कृपा करेंगे -

1. यद्यपि बुद्धिपूर्वक शुभोपयोग की मर्यादा छठे गुणस्थान तक ही होती है, तथापि सातवें गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक शुभोपयोग या रागांश रहता ही है। लेकिन उस अबुद्धिपूर्वक शुभोपयोग या रागांश को शुद्धोपयोग कदापि नहीं कहा जा सकता है, वह भी है तो बन्ध का ही कारण।

2. जिस प्रकार साधक को चौथे से छठे गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक शुभोपयोग और सातवें से दशवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग के साथ अबुद्धिपूर्वक शुभोपयोग होता है; उसी प्रकार सविकल्पता-निर्विकल्पता की स्थिति भी जानना चाहिए।

3. प्रवचनसार की चरणानुयोग-चूलिका में जो दो प्रकार के मुनि कहे हैं - शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी; वे दोनों ही हैं तो भावलिंगी ही, इनमें कोई भी द्रव्यलिंगी नहीं है, परन्तु उन्हें व्यवहार-प्रवृत्ति के आधार पर शुभोपयोगी या शुद्धोपयोगी कहा जाता है अर्थात् जो मुनिराज अधिकांशतया (भावों की तरतमता

के अनुसार) व्यवहारिक कार्यों (वैयावृत्यादि) में प्रवृत्त रहते हैं, उन्हें 'शुभोपयोगी' कहते हैं और जो मुनिराज अधिकांशतया (भावों की तरतमता के अनुसार) व्यावहारिक कार्यों से निवृत्त रहते हैं, ध्यान-अध्ययन में ही तल्लीन रहते हैं, उन्हें 'शुद्धोपयोगी' कहते हैं। मुनियों की शुभोपयोगी तथा शुद्धोपयोगी - ये संज्ञाएँ, गुणस्थानाधारित नहीं हैं, क्योंकि गुणस्थान के आधार पर व्यावहारिक संज्ञाएँ या व्यावहारिक प्रवृत्तियों का कथन-व्यवहार सम्भव नहीं है।

4. शुद्धोपयोग के सर्वथा अभाव में मुनिपना कदापि सम्भव नहीं है। यदि फिर भी उसे सम्भव मानेंगे तो उनकी भावलिंगी संज्ञा किसी भी प्रकार से नहीं की जा सकेगी अर्थात् उन्हें द्रव्यलिंगी संज्ञा ही प्राप्त होगी।

इस सन्दर्भ में प्रवचनसार की चरणानुयोग-चूलिका में गाथा 213 से 219 तक यह बात अच्छी तरह सिद्ध की गई है कि 'शुद्धोपयोग के अभाव में मुनिराज की कोई भी व्यावहारिक क्रिया सम्यक् नहीं हो सकती है। यद्यपि इस प्रकरण को मूलत: आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन की टीकाओं के साथ पढना अनिवार्य है-, तथापि पाठकों के लाभार्थ इसके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं -

* ..... **'सामण्णे' निज-शुद्धात्मानुभूति-लक्षण-निश्चय-चारित्रे....**

अर्थात् अपने शुद्धात्मा के अनुभवनरूपी निश्चयचारित्र-स्वरूप मुनिपद में रहते हुए....... (प्रवचनसार गाथा 213 की आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका)

* जो श्रमण, सदा ज्ञान-दर्शनादि में प्रतिबद्ध होकर, मूलगुणों में प्रयत्नशील आचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् होता है। (प्रवचनसार गाथा 214)

* एक स्वद्रव्य से सम्बन्ध ही उपयोग का मार्जन करनेवाला है।

(प्रवचनसार गाथा 214 की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका)

* जो मुनि, सम्यग्दर्शन को मुख्य लेकर, नित्य सम्यग्ज्ञान के आधीन होता हुआ और मूलगुणों में प्रयत्न करता हुआ आचरण करता है, वह पूर्ण यति हो जाता है। जो लाभ-अलाभ आदि में समान चित्त को रखनेवाला श्रमण, तत्त्वार्थ-श्रद्धान और उसके फल-स्वरूप निश्चय-सम्यग्दर्शन में जहाँ एक निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है - ऐसी रुचि होती है; तथा वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए परमागम के

ज्ञान में और उसके फलरूप स्व-संवेदन-ज्ञान में तथा अट्ठाईस मूल-गुणों में अथवा निश्चय मूलगुण के आधाररूप परमात्म-द्रव्य में उद्यत होता हुआ सर्व-काल आचरण करता है, वह पूर्ण मुनि होता है। यहाँ यह भाव है कि जो निज शुद्धात्मा की भावना में रत होते हैं, उन्हीं के पूर्ण मुनिपना हो सकता है।

साधु महाराज, शुद्धात्मा की भावना के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु से प्रासुक आहार लेते हैं, सो **भक्त** (आहार या भोजन करना) है। ..... निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करने के लिए उपवास करते हैं, सो **क्षपण** है। ..... शुद्धात्मा की भावना के सहकारी कारण आहार, नीहार आदि व्यवहार के लिए व देशान्तर के लिए गमन करना, सो **विहार** है। शुद्धोपयोग की भावना के सहकारी कारणरूप शरीर, ज्ञान का उपकरण शास्त्र, शौच का उपकरण कमण्डलु, दया का उपकरण पिच्छिका आदि उपधि (परिग्रह) है। .... इत्यादि।

(प्रवचनसार गाथा 214-215 की आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका का पण्डित श्री अजितकुमारजी शास्त्री एवं पण्डित श्री रतनचन्दजी मुख्तार कृत हिन्दी भाषानुवाद, प्रकाशक, श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वद् परिषद्)

* **अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्, तस्य हिंसनात्, स एव च हिंसा; अतः श्रमणस्याऽशुद्धोपयोगाऽविनाभाविनी शयना-ऽऽसन-स्थान-चंक्रमणादिष्वऽप्रयता या चर्या, सा खलु तस्य सर्वकालमेव सन्तान-वाहिनी छेदानऽर्थान्तरभूता हिंसैव।**

अर्थात् **अशुद्धोपयोग, वास्तव में छेद** है, क्योंकि उससे **शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन** होता है; और वह **अशुद्धोपयोग ही हिंसा** है, क्योंकि उससे **शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन** होता है; इसलिए श्रमण के जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती – ऐसे शयन-आसन-स्थान-गमन इत्यादि में अप्रयत (प्रयत्न रहित असावधान) चर्या, वह वास्तव में उसके लिए सर्वकाल में (सदा) ही सन्तान-वाहिनी (सतत/निरन्तर/धारावाही) हिंसा ही है, जो कि छेद से अनन्यभूत है। (अर्थात् वह छेद से कोई भिन्न वस्तु नहीं है।)

(प्रवचनसार गाथा 216 की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका)

* **अयमऽत्राऽर्थः – स्वस्थ-भावना-रूप-निश्चय-प्राणस्य विनाश-कारणभूता रागादि-परिणतिर्निश्चय-हिंसा भण्यते, रागाद्युत्पत्ते-र्बहिरंग-**

निमित्तभूत: पर-जीव-घातो व्यवहार-हिंसेति द्विधा हिंसा ज्ञातव्या, किन्तु विशेष: – बहिरंग-हिंसा भवतु वा मा भवतु, स्वस्थ-भावनारूप-निश्चय-प्राण-घाते सति निश्चय-हिंसा नियमेन भवतीति; तत: कारणात्सैव मुख्येति।

अर्थात् यहाँ यह भाव है कि **अपने आत्मस्वभाव की भावनारूप निश्चय-प्राण का विनाश करनेवाली रागादि-परिणति निश्चय-हिंसा** कही जाती है।

रागादि उत्पन्न होते समय बाहरी निमित्तरूप जो परजीव का घात है, सो व्यवहार- हिंसा है – ऐसे दो प्रकार की हिंसा जाननी चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि बाहरी हिंसा हो या न हो, **जब आत्म-स्वभाव की भावनारूप निश्चय-प्राण का घात होगा, तब निश्चय-हिंसा नियम से होगी** और उस कारण वही *मुख्य* है।

(प्रवचनसार गाथा 217 की आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीकाका हिन्दी अनुवाद)

...**जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता – ऐसे अप्रयत आचार** के द्वारा *प्रसिद्ध* (ज्ञात) होनेवाला **अशुद्धोपयोग का सद्भाव हिंसक ही** है, क्योंकि उससे छह काय के प्राणों के व्यपरोप के आश्रय से होनेवाले बन्ध की प्रसिद्धि है और **जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है – ऐसे प्रयत आचार** से प्रसिद्ध (ज्ञात) होने वाला **अशुद्धोपयोग का असद्भाव अहिंसक ही** है, क्योंकि पर के आश्रय से होने वाले लेश मात्र भी बन्ध का अभाव होने से जल में झूलते हुए कमल की भाँति निर्लेपता की प्रसिद्धि है।

(प्रवचनसार गाथा 218 की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका का हिन्दी अनुवाद)

शुद्धात्म-संवित्ति-लक्षण-शुद्धोपयोग-परिणत-पुरुष: .... अर्थात् जो साधु, शुद्धात्मा के अनुभवरूप शुद्धोपयोग में परिणमन कर रहा है, वह पृथ्वी आदि छह कायरूप जन्तुओं से भरे हुए इस लोक में विचरता हुआ भी, यद्यपि बाहर में उसके निमित्त से कुछ द्रव्य-हिंसा होती है तो भी उसके निश्चय-हिंसा नहीं है।

(प्रवचनसार गाथा 218 की आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका)

अशुद्धोपयोग के सद्भाव में होने वाले काय-चेष्टा पूर्वक परप्राणों के घात से तो बन्ध होता है, परन्तु अशुद्धोपयोग के असद्भाव में होने वाले काय-चेष्टा पूर्वक पर-प्राणों के घात से तो बन्ध नहीं होता।

इस प्रकार काय-चेष्टा पूर्वक होने वाले पर-प्राणों के घात से बन्ध का होना तो अनैकान्तिक होने से उसके छेदपना अनैकान्तिक है, नियमरूप नहीं है।

(प्रवचनसार गाथा 219 की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका का भावार्थ)

इस प्रकरण का अन्तिम निष्कर्ष बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव, एक कलश (श्लोक) के माध्यम से अपनी बात कहते हैं –

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-,-मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं, निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि।।

अर्थात् यहाँ जो कहने योग्य था, वह अशेषरूप से कहा गया है, इतने मात्र से ही यदि कोई चेत जाए, समझ ले तो उचित है, क्योंकि जो निश्चेतन (जडवत् नासमझ) है, उसके व्यामोह का जाल वास्तव में अतिदुस्तर है; अतः उसे तो अति -विस्तार से समझाया जाए तो भी कोई लाभ नहीं है।

5. शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग या शुभभाव-अशुभभाव-शुद्धभाव या शुभपरिणाम-अशुभपरिणाम-शुद्धपरिणाम या पुण्य-पाप-धर्म या शुभोपराग-अशुभोपराग-वीतराग या शुभयोग-अशुभयोग-शुद्धयोग; इन सभी का स्थूल-दृष्टि से एक ही तात्पर्य है – ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है, आगम में भी अनेक जगहों पर एकार्थ में इनके प्रयोग किये गये हैं, परन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर इनके अलग-अलग अर्थ भी सम्भव हैं।

जैसे, शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग – इन तीन भेदों में उपयोग की मुख्यता से व्याख्यान होता है। इनमें भी जब हम गुणस्थान-परिपाटी से चर्चा करते हैं, तब अशुभोपयोग में मिथ्याभिप्राय से युक्त शुभ-अशुभ, दोनों भावों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि प्रथम तीन गुणस्थानों में ही मिथ्याभिप्राय (दर्शनमोह की मुख्यता) होने से इन तीन गुणस्थानों में ही अशुभोपयोग कहा गया है, क्योंकि विचार करने पर वास्तव में भी मिथ्या-अभिप्राय अर्थात् श्रद्धा-सम्बन्धी दोष होने पर उपयोग को भी शुभ कैसे माना जा सकता है?

उसके बाद के तीन गुणस्थानों (4 से 6) में यद्यपि सम्यक्-अभिप्राय होता है, तथापि उसके साथ शुभ-विकल्प होता है–, अतः वहाँ मुख्यता से शुभोपयोग

कहा है, लेकिन मिथ्या-अभिप्राय के साथ शुभ-विकल्पों की 'शुभोपयोग' संज्ञा नहीं हो सकती है, क्योंकि मिथ्या-अभिप्रायरूप महा-अशुभ के रहते हुए भावरूप किंचित् शुभ का महत्त्व नहीं है।

इसके बाद के छह गुणस्थानों (7 से 12) की 'शुद्धोपयोग' संज्ञा है, क्योंकि वहाँ अभिप्राय भी सम्यक् और भाव या परिणाम भी कषाय-रहित वीतराग हुआ है; वहाँ सातवें से दशवें गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक कषाय का अभाव हुआ है, जबकि ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में सर्वथा कषाय-रहितपना होने से पूर्ण वीतराग-स्वरूप यथाख्यात-चारित्ररूप शुद्धोपयोग है।

इसके बाद तेरहवें आदि गुणस्थानों (13-14) में भी शुद्धोपयोग तो होता है, परन्तु वहाँ शुद्धोपयोग के साक्षात् फल केवलज्ञान एवं सिद्धदशा की मुख्यता होने से उनकी प्रधानता से उन्हें 'शुद्धोपयोग' के फल से जोडा गया है।

यद्यपि नियमसार में अन्तिम 'शुद्धोपयोग अधिकार' में इन गुणस्थानवर्ती अरहन्तों को एवं सिद्ध भगवन्तों को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

(देखें, नियमसार गाथा 159 से 187)

इसी प्रकार पुण्य-पाप-धर्म या शुभोपराग-अशुभोपराग-वीतराग को भी उक्त शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग या शुभभाव-अशुभभाव-शुद्धभाव या शुभपरिणाम-अशुभपरिणाम-शुद्धपरिणाम की तरह ही समझ लेना चाहिए।

लेकिन ध्यान रहे – शुभयोग-अशुभयोग-शुद्धयोग आदि में मन-वचन-काय के योग की प्रधानता होती है, अत: इन्हें शुभलेश्या-अशुभलेश्या-अलेश्या से भी जोडकर देखा जा सकता है।

यहाँ विशेष इतना है कि तेरहवें गुणस्थान में भी शुक्ललेश्या होने से शुभलेश्या ही मानी गयी है, सिद्ध भगवन्तों को ही अलेश्य माना है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवान अयोगी होने से शुद्धयोगी कहे जा सकते हैं, तथापि द्रव्यलेश्या की अपेक्षा उन्हें भी शुक्ललेश्या ही मानी गई है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी द्रव्यलेश्या-भावलेश्या में शुभ-अशुभपना यथायोग्य समझ लेना चाहिए।

6. शुभोपयोग को यदि हम सम्यक्-मिथ्यापने से जोडते हैं तो सम्यक्-शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि को ही सिद्ध होता है, लेकिन यदि हम सामान्य शुभोपयोग की बात करते हैं तो वह मिथ्यादृष्टि को भी सम्भव है; अन्यथा नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले द्रव्यलिंगी मुनि भी शुभोपयोगी नहीं कहला सकते। इस प्रकार सामान्यतया शुभलेश्या-शुभयोग-शुभभाव वाले जीव भी शुभोपयोगी कहलाता सकते हैं।

7. गुणस्थान-परिपाटी के अनुसार शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग की व्याख्या को द्रव्यानुयोग की मुख्यता से समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ उपयोग में अभिप्राय को एवं तारतम्य-कथन को मुख्य करके स्थूल स्याद्वाद-शैली का प्रयोग किया गया है।

जबकि प्रवचनसार गाथा 9 की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है –

मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योग-पंच-प्रत्यय-रूपाऽशुभोपयोगेना-ऽशुभो विज्ञेयः।

अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – इन पाँच प्रत्ययरूप अशुभोपयोग से परिणत जीव को अशुभ जानना चाहिए – यह कथन, करणानुयोग की सूक्ष्मता लिए हुए प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें योग-निमित्तक ईर्यापथ-आस्रव की विद्यमानता के कारण तेरहवें गुणस्थान तक अशुभोपयोग माना है।

इसी प्रकार सूक्ष्म लोभ की विद्यमानता के कारण आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने आठवें अध्याय में दशवें गुणस्थान तक सूक्ष्म राग होने से 'शुभोपयोग' माना है, उनके ही शब्दों में कहें तो –

''उपयोग के शुभ, अशुभ, शुद्ध – ऐसे तीन भेद कहे हैं; वहाँ धर्मानुरागरूप परिणाम, वह शुभोपयोग; पापानुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम, वह अशुभोपयोग; और राग-द्वेष रहित परिणाम, वह शुद्धोपयोग – ऐसा कहा है, सो इस छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा वह कथन है।

करणानुयोग में कषाय-शक्ति की अपेक्षा गुणस्थानादि में संक्लेश-विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा निरूपण किया है, वह विवक्षा यहाँ नहीं है।

करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यात-चारित्र होने पर होता

है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्था वाला शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे?

तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है; इसलिए वहाँ छद्मस्थ, जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोडकर, आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते, उस काल उसे 'शुद्धोपयोगी' कहते हैं।

यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की, अपनी बुद्धिगोचर रागादिक को छोडता है, इस अपेक्षा उसे 'शुद्धोपयोगी' कहा है।

इसी प्रकार स्व-पर-श्रद्धानादिक होने पर सम्यक्त्वादि कहे, वह बुद्धिगोचर अपेक्षा से निरूपण है, सूक्ष्म भावों की अपेक्षा गुणस्थानादि में सम्यक्त्वादि का निरूपण करणानुयोग में पाया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसलिए द्रव्यानुयोग के कथन की विधि करणानुयोग से मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिस प्रकार यथाख्यात-चारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली अवस्था में द्रव्यानुयोग अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षा से सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्य कथन जान लेना।"

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 285-286)

८. यद्यपि चतुर्थ-पंचम गुणस्थानों में भी कदाचित् सामायिकादि के काल में बुद्धिपूर्वक कषाय का अभाव होने से 'शुद्धोपयोग' भी होता है, परन्तु उसकी बहुलता नहीं होने से उसे गौण किया गया है; अन्यथा वहाँ शुद्धोपयोग के अभाव में चतुर्थ गुणस्थान में निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एवं पंचम गुणस्थान में निश्चय व्रतादि-प्रतिमादि की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी।

(देखो, प्रवचनसार गाथा 80 की दोनों आचार्यों की टीकाएँ एवं लेखक की अन्य पुस्तक 'सम्यक्त्व चर्चा' भी अवश्य देखें।)

9. द्रव्यानुयोग या अध्यात्मशैली की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षयोपशम-सम्यक्त्व, वेदक-सम्यक्त्व, उपशम-सम्यक्त्व या क्षायिक-सम्यक्त्व; किसी भी

अवस्था में जब यह जीव, सामायिकादि के काल में आत्मानुभूतिरूप निर्विकल्प-दशा को प्राप्त करता है, उस समय वह 'शुद्धोपयोगी' कहलाता है।

'शुद्धोपयोग' में शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाव का धारक जो निज शुद्धात्मा है, वह ध्येय होता है; इस कारण शुद्ध ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होने से, शुद्ध का आधार होने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से 'शुद्धोपयोग' सिद्ध होता है।

वृहद्द्रव्यसंग्रह के टीकाकार श्रीमद् ब्रह्मदेव सूरि ने शुद्धोपयोग को अशुद्ध-निश्चयनय के अन्तर्गत स्वीकार किया है –

इस शुद्धोपयोग को स्वयं शुद्ध होने से शुद्धोपयोग नहीं कहा जा रहा है, बल्कि **शुद्धध्येयत्वात्** अर्थात् इसका ध्येय शुद्ध होने से, **शुद्धावलम्बनत्वात्** अर्थात् इसका अवलम्बन शुद्ध होने से, तथा **शुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वात्** अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप प्राप्त करने में साधक होने से इसका सार्थक नाम 'शुद्धोपयोग' है।

इसी प्रकार शुद्धोपयोग को एकदेश-शुद्ध-निश्चय-नय का विषय होने से एकदेश-शुद्ध अवश्य माना गया है। वे लिखते हैं – 'संवर' शब्द से वाच्य यह 'शुद्धोपयोग' संसार के कारणभूत मिथ्यात्व रागादि के समान अशुद्ध नहीं होता; उसी प्रकार शुद्धोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाली केवलज्ञानरूप शुद्धपर्याय के समान शुद्ध भी नहीं होता; बल्कि इन दोनों अशुद्ध-शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चय-रत्नत्रयात्मक मोक्ष के कारणभूत एकदेश-व्यक्तिरूप एकदेश निरावरणरूप तीसरी ही अवस्थारूप होता है। (देखें, वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, 34)

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि शुद्धोपयोग को पूर्ण शुद्ध मानना अनुचित हैं; बल्कि उसका ध्येय शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव निजात्मा होता है, इसलिए उसे 'शुद्धोपयोग' कहा गया है।

साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी राग-द्वेषरूप अशुद्धता का अभाव होने से एकदेश-शुद्धता होती ही है; अतः यहाँ भी एकदेश-शुद्धरूप शुद्धोपयोग होने में कोई विरोध नहीं है। एकदेश -शुद्ध-निश्चयनय की स्वीकृति भी चतुर्थ गुणस्थान से स्वीकार की ही गई है।"

इसी प्रकार राजवार्तिककार ने जो क्षायिक-सम्यक्त्व को 'वीतराग-सम्यक्त्व' स्वीकार किया है, उसमें भी दर्शन-मोह का समूल नाश करने की अपेक्षा उसे वीतराग कहा गया है, लेकिन उन्होंने उपशम-सम्यक्त्व और क्षयोपशम-सम्यक्त्व को वीतराग नहीं माना है, उसका कारण भी यही है कि वहाँ दर्शन-मोह का समूल नाश नहीं हुआ है, अभी वह सत्ता में विद्यमान है – इस अपेक्षा उसे वीतराग-सम्यक्त्व भी नहीं कहा गया है, सराग-सम्यक्त्व कहा है।

10. इस प्रकार तीन उपयोगों की व्याख्या, यथायोग्य दर्शन-मोह और चारित्र-मोह की मुख्यता से करना चाहिए।

11. पहले ही यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है; अत: जो क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धों की अवस्था तक जाता है, वह शुभोपयोग परिणाम द्वारा कैसे हो सकता है? वह शुद्धोपयोग परिणाम द्वारा ही हो सकता है।

12-14. स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द भगवान ने अष्टपाहुड के चारित्रपाहुड में चारित्र के दो भेद बताये हैं – सम्यक्त्वाचरण-चारित्र और संयमाचरण-चारित्र। उसमें से आगम में संयमाचरण-चारित्र की अपेक्षा तो चारित्र के क्षयोपशमादि समस्त भेद घटित हो जाते हैं, लेकिन सम्यक्त्वाचरण-चारित्र को उनमें से चारित्र का कौनसा भाव माना जाए? – यह घटित नहीं किया गया है; इस कारण सर्वत्र भ्रम व्याप्त है, लेकिन यदि इस पर विचार किया जाए तो इसका ही मार्ग स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द भगवान ने चारित्रपाहुड के इस कथन से स्पष्ट निकल रहा है।

जिस प्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती के चारित्र को 'संयमासंयम' नामक क्षयोपशम भाव स्वीकार किया गया है, जिस प्रकार तृतीय गुणस्थान को ही सम्यक्त्व की अपेक्षा 'मिश्र' (क्षायोपशमिक) गुणस्थान स्वीकार किया गया है; उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान की इस अवस्था को जब सम्यक्त्वाचरण-चारित्र माना गया है तो उसे करणानुयोग के आधार पर कोई न कोई चारित्र का भाव तो मानना ही होगा, भले ही उसे संयम न माना जाए, लेकिन चारित्र का भाव मानना तो आवश्यक है ही।

आगम में भी चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी-कषाय का अभाव तो माना ही गया है, अब उसे ही निश्चय-व्यवहारनय-सम्मत सम्यक्त्वाचरण-चारित्र भी माना ही जाना चाहिए, जिसे स्पष्टत: अविरति नहीं कहा जा सकता और न ही उसे

'औदयिक-भाव' की संज्ञा देना उचित माना जा सकता है।

आगम में इस गुणस्थान को दर्शन-मोह की विवक्षा के अन्तर्गत माना गया है, अत: चारित्र-मोह के सम्बन्ध में वह मौन है, इसका अर्थ यह कदापि नहीं मानना चाहिए कि वहाँ चारित्र का 'औदयिक-भाव' है। चारित्र के सम्बन्ध में मौन रहने का अर्थ 'औदयिक' कैसे हो सकता है। हाँ, हम यह तो अवश्य कह सकते हैं कि वहाँ अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय प्रकृति के उदय-निमित्तक असंयम या अविरति होती है, लेकिन उसका अर्थ अनन्तानुबन्धी के अभाव को भी अविरति कैसे कह सकते हैं, उसे तो चारित्र ही कहना चाहिए, जिसे आचार्य भगवान ने सम्यक्त्वाचरण-चारित्र नाम दिया भी है।

यही कारण है कि धवला के अनुवादक, पंचाध्यायीकार, बरैयाजी आदि ने सम्यक्त्वाचरण-चारित्र को स्वरूपाचरण-चारित्र माना है, जो अनन्तानुबन्धी-कषाय के अभाव से प्रगट होता है - यही सम्यक्त्वाचरण-चारित्र का निश्चय-सम्यक्त्वाचरण-चारित्र है और उसका व्यावहारिक विकल्पात्मक-चारित्र, जो कि आठ अंग, 25 दोषों के अभाव आदिरूप व्यवहार-सम्यक्त्वाचरण-चारित्र होता है, जिसका विस्तार से वर्णन चारित्रपाहुड की 20 गाथाओं तक किया गया है। जैसे, पंचमादि गुणस्थानों में निश्चय-व्यवहार चारित्र होता है, उसी प्रकार यहाँ भी अवश्य जानना चाहिए।

जैसे, द्वितीय गुणस्थान में दर्शन-मोहनीय का पारिणामिकभाव माना गया है। वैसे, आगम में चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र का पारिणामिकभाव तो नहीं माना गया है। इसका कारण यह है कि आगम, चतुर्थ गुणस्थान को दर्शन-मोहनीय की विवक्षा के अन्तर्गत स्वीकार करता है, अत: वह चारित्र-मोहनीय की विवक्षा को गौण कर रहा है।

यद्यपि आगम, चतुर्थ गुणस्थान में अविरति को स्वीकार करता है, उसे औदयिक मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है-, लेकिन वह अविरति को अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण-कषाय के उदय-जनित औदयिक मानता है, अनन्तानुबन्धी-जनित नहीं; अनन्तानुबन्धी जनित अविरति प्रथम और द्वितीय गुणस्थान में ही मान्य है।

चतुर्थ गुणस्थान में तो नहीं, तृतीय गुणस्थान में भी इस अविरति को नहीं माना गया है। अरे! वहाँ तो अनन्तानुबन्धी के अभाव-जनित सम्यक्त्वाचरण-चारित्र माना गया है, अत: उसे हम अविरति तो कदापि नहीं मान सकते।

इस विषय पर आज से लगभग 20 वर्ष पूर्व आचार्य श्री विद्यासागरजी से तीर्थक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) में मेरी चर्चा हुई थी, तब भी मैंने आचार्यश्री के सामने यही प्रश्न रखा था कि 'जब चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है और अनन्तानुबन्धी, चारित्र-मोहनीय की प्रकृति है तो उसके अभाव में कौनसा चारित्र प्रगट होता है?'

मुझे अच्छी तरह याद है कि आचार्यश्री, इस प्रश्न का जवाब देने के पूर्व कुछ देर के लिए मौन हो गये थे, तब मेरे द्वारा बहुत आग्रह करने पर वे मात्र इतना बोले कि 'आगम में चतुर्थ गुणस्थान में अविरति मानी गई है, चारित्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।' उस समय तक मुझे अष्टपाहुड के चारित्रपाहुड में चारित्र के भेद-स्वरूप जो 'सम्यक्त्वाचरण-चारित्र' की चर्चा आती है, उसकी जानकारी नहीं थी, वरना मैं उनसे अवश्य पूछता। जबकि यह तो आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा प्ररूपित है, इसे नहीं मानने का तो सवाल ही नहीं होता।

अत: इस सम्बन्ध में अवश्य सम्पूर्ण विद्वद्वर्ग को विचार करना चाहिए; क्योंकि 'सम्यक्त्वाचरण-चारित्र', चारित्र का ही भेद है, सम्यक्त्व का नहीं। इस सम्बन्ध में अन्य युक्तियों पर भी विचार करते हैं -

जैसे, द्वितीय गुणस्थान में चारित्र-मोह की अनन्तानुबन्धी नामक किसी एक कषाय के उदय होने पर भी इस गुणस्थान के भाव को दर्शन-मोह के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम के अभाव के कारण 'पारिणामिक भाव' माना गया है, औदयिक नहीं, क्योंकि इस गुणस्थान में चारित्र-मोह की विवक्षा ही नहीं है, अत: यही विवक्षा चतुर्थ गुणस्थान में भी लागू होती है, क्योंकि इस गुणस्थान में भी दर्शन-मोह की ही विवक्षा होती है, चारित्र-मोह की नहीं।

शास्त्रकार का यह कहना कि सम्यक्त्व के साथ ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं और उसके अभाव में वे मिथ्या रहते हैं; इस नियम के अनुसार भी चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र के सम्यक्पने की सिद्धि हो जाती है।

इस विषय में दिग्भ्रमित होने का वास्तविक एक कारण यह भी है कि चारित्र और संयम को हमने सर्वथा एकार्थवाची मान लिया है, जिससे इस विषय की गुत्थी नहीं सुलझ रही है; हम यह सर्वथा कह नहीं सकते हैं कि जहाँ-जहाँ चारित्र है, वहाँ-वहाँ संयम है और जहाँ-जहाँ संयम नहीं है, वहाँ-वहाँ चारित्र भी नहीं है।

15-17. चतुर्थ गुणस्थान और ऊपर के गुणस्थानों के क्षायिक-सम्यक्त्व को भी सम्यक्त्व के दश भेदों के माध्यम से समझा जा सकता है। मूलतः सम्यक्त्व के तीनों भेद, श्रद्धा गुण से सम्बन्ध रखते हैं, लेकिन उनमें अन्य गुणों का उपचार किया जाएगा तो सम्यक्त्व के दश भेद तो क्या, उसके अनेक भेद सम्भव हैं। दश भेद तो उदाहरणस्वरूप हैं; उसी प्रकार विशुद्धि के निमित्त से होनेवाले लब्धि-स्थानों में अन्तर होना भी स्वाभाविक है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा, द्रव्यद्रष्टि से एक अभेद वस्तु है, उसे गुणभेद से देखना, व्यवहार है; अभेदद्रष्टि से जब तक आत्मा सिद्धसमान पूर्ण शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक अनेक द्रष्टियों से उसमें भेद बनेंगे ही, उसे कैसे रोका जा सकता है?

18. क्षायिक-सम्यक्त्व और निश्चय-सम्यक्त्व को एकार्थवाची नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्षायिक-सम्यक्त्व में दर्शन-मोह के क्षय की अपेक्षा होती है, जबकि जो निश्चयनय से सम्यक्त्व का स्वरूप समझा जाता है, उसे निश्चय-सम्यक्त्व कहते हैं। समयसार की 13वीं गाथा में भूतार्थ से जाने हुए नौ तत्त्वों को सम्यक्त्व अर्थात् निश्चय-सम्यक्त्व कहा है। भूतार्थ से नौ तत्त्वों को जानना अर्थात् अपने एकत्व-विभक्त-स्वरूप निज शुद्धात्मा का श्रद्धान करना ही निश्चय-सम्यक्त्व है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार क्षायिक -सम्यक्त्व में निश्चय-व्यवहार दोनों विवक्षाएँ घटित हो जाती हैं, उसी प्रकार क्षयोपशम-सम्यक्त्व और उपशम-सम्यक्त्व में भी निश्चय-व्यवहार दोनों विवक्षाएँ घटित हो जाती हैं।

इस प्रकार तीनों सम्यक्त्वों में निश्चय-व्यवहार दोनों विवक्षाएँ घटित हो जाती हैं। अत: निश्चय-सम्यक्त्व की स्थिति, तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में घटित हो जाती है अर्थात् जब तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में उपयोग स्वभाव-सन्मुख होता है, उस समय वह निश्चय-सम्यक्त्व ही कहलाता है।

19. आचार्य जयसेन एवं ब्रह्मदेव सूरि ने जगह-जगह निश्चय-सम्यक्त्व को निश्चय-चारित्र का अविनाभावी कहा गया है? इसमें उनका तात्पर्य यह है कि स्वरूप-लीनता की अवस्था में ही निश्चय-सम्यक्त्व होता है। इनका अविनाभावीपना भी यही है कि स्वरूप-लीनता के बिना निश्चय-सम्यक्त्व और निश्चय-सम्यक्त्व के बिना स्वरूप-लीनता नहीं हो सकती – यही उनकी परस्पर अविनाभाविता है। साथ ही यह तो नियम समग्र जिनागम को मान्य है कि सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता, वह नियम यहाँ भी लागू होगा ही।

इस विषय को समझने के लिए करणानुयोग का एक नियम विशेष ध्यान देने योग्य है - जब श्रेणी आरोहण होता है, वह निश्चय-चारित्र का स्पष्टत: काल है, क्योंकि उस काल में शुक्ल-ध्यान भी होता ही है। लेकिन यदि कोई जीव उस समय निश्चय-सम्यक्त्व में नहीं है तो उसे उस समय निश्चय-सम्यक्त्व में आना अनिवार्य है। जैसे, यदि उपशम-श्रेणी का आरोहण है तो क्षायिक-सम्यक्त्व या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व करना उसके पहले ही अनिवार्य होता है। इसी प्रकार यदि क्षपक-श्रेणी का आरोहण है तो क्षायिक-सम्यक्त्व उसके पहले ही अनिवार्य होता है; अत: इससे भी निश्चय-सम्यक्त्व और निश्चय-चारित्र की परस्पर अविनाभाविता सिद्ध होती है।

20-21. शुभोपयोग आदि तीन भेद, करणानुयोग-पद्धति में इसी प्रकार घटित नहीं होते, इसमें उपयोग के अशुद्ध-विशुद्ध-शुद्ध – ऐसे तीन भेद तो घटित हो जाते हैं। विशुद्धता में भी तीव्र-मन्द की अपेक्षा अनेक भेद भी बन जाते हैं। करणानुयोग में शुभ्र-अशुभ के भेद इसलिए भी नहीं बन पाते हैं, क्योंकि वहाँ शुभोपयोग (4 से 6 गुणस्थान) के समय भी अशुभ-घातिकर्मों आदि का बन्ध होता है और अशुभोपयोग (1 से 3 गुणस्थान) के समय भी उसकी मन्दता हो तो शुभ-कर्मों का बन्ध भी होता है – यह सब करणानुयोग-सम्मत विषय हैं।

करणानुयोग-पद्धति में तो मुख्यरूप से उपयोग के ज्ञान-दर्शनात्मक भेदों को स्वीकार किया गया है। उपयोग के ज्ञान-दर्शनात्मक भेदों से इन तीन भेदों को मिलाने पर भी अनेक भंग बन जाएँगे। फिर उन ज्ञान-दर्शनात्मक भेदों में लब्धि-उपयोग की व्यवस्था करने पर और भी भंग बनेंगे। इन सबकी चर्चा को यहाँ

विस्तार-भय से विराम देते हैं।

22. समयसार की गाथा 87-90 और उनकी टीकाओं में अनादिकाल से उपयोग के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप तीन प्रकार की दशाएँ स्वीकार की हैं, जो मूलत: पठनीय हैं। यहाँ मात्र मूल गाथाओं का ही उल्लेख करते हैं –

मिच्छत्तं पुण दुविहं, जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो, कोहादीया इमे भावा।।87।।

पोग्गलकम्मं मिच्छं, जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं, अविरदि मिच्छं च जीवो दु।।88।।

उवओगस्स अणाई, परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरदिभावो य णादव्वो।।89।।

एदेसु य उवओगो, तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं, उवओगो तस्स सो कत्ता।।90।।

अर्थात् मिथ्यात्व दो प्रकार का है – जीव-मिथ्यात्व और अजीव-मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह, क्रोध आदि भावों को भी दो-दो प्रकार का जानना चाहिए।।87।।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति, अज्ञान आदि अजीव हैं, वे पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान आदि जीव हैं, वे उपयोगरूप हैं।।88।।

मोहयुक्त उपयोग के अनादि से तीन परिणाम हैं – मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति; ऐसा जानना चाहिए।।89।।

यद्यपि अनादि से उपयोग, ऐसे तीन प्रकार के परिणामविकाररूप हो रहा है, तथापि (शुद्धनय से) वह शुद्ध, निरंजन, एक भावरूप है; वह उपयोग, जिस समय जिस भाव को स्वयं करता है, उस समय उस भाव का कर्ता होता है।

इसी प्रकार प्रवचनसार गाथा 157-158 एवं उनकी दोनों टीकाओं में शुभोपयोग-अशुभोपयोग आदि से श्रद्धागुण और चारित्रगुण का स्पष्टतया सम्बन्ध सिद्ध किया है। इनसे उपयोग का सम्बन्ध स्वीकार करने के बाद इनमें भी परिणति -उपयोग की व्यवस्था भी बन जाएगी। जैसे, शुद्धोपयोग के समय परिणति में

यथायोग्य अबुद्धिपूर्वक शुभाशुभ-रागमय परिणति तथा यथायोग्य शुभोपयोग के समय भी यथायोग्य एक, दो या तीन कषाय-चौकड़ी के अभावरूप शुद्ध-परिणतियाँ सिद्ध हो जाएँगी, परिणति (परिणमन की योग्यता) के साथ उपयोग (प्रगट परिणमन) की व्यवस्था स्वीकार की ही गई है।

23-24. प्रवचनसार गाथा 157 की टीका में जो 'शुभोपयोग को दर्शन-चारित्र-मोहनीय-कर्म की क्षयोपशम-दशा-विश्रान्त भाव' कहा है तो उसे दूसरे नाम की अपेक्षा मिश्रभाव या मिश्रोपयोग भी कहा ही जा सकता है? परन्तु यह मिश्रपना अकेले ज्ञानात्मक नहीं, बल्कि दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मिश्रपना या ज्ञान-राग-वीतरागमय मिश्रपना, शुद्धता-अशुद्धता-उपयोग का मिश्रपना ही है।

यद्यपि दो अलग-अलग ज्ञानात्मक उपयोग एक साथ नहीं हो सकते हैं, लेकिन अल्पज्ञान स्वयं क्षयोपशम-भावस्वरूप होने से वहाँ ज्ञानावरणी कर्म के सर्वघाति-देशघाति-स्पर्द्धकों के क्षय-उपशम-उदय का मिश्रपना होता ही है; अतः यहाँ दो उपयोग मिलकर मिश्र नहीं हुए हैं, बल्कि मिश्ररूप एक ही उपयोग है, जो दो अलग-अलग उपयोगों से भिन्न, कोई तीसरी मिश्र-जाति का एक उपयोग है।

25-26. आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने क्षयोपशमभाव के अन्तर्गत अंश-कल्पना (येनांशेन ..... आदि) तो स्वयं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक 212 से 214 में की है। अंश-कल्पना, मिथ्या-कल्पना ही हो, यह सत्य नहीं है, बल्कि यह एक मिथ्या विचार है। क्षयोपशमभाव में भी अंशभेद सम्भव है, हाँ, उन्हें अलग-अलग भाव नहीं माना गया है।

आचार्यदेव स्वयं लिखते हैं कि जितना शुद्ध वीतराग-अंश या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारण है और जितना अशुद्ध शुभाशुभ-राग-अंश है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है।

स्थूलरूप से उस मिश्ररूप भाव या उपयोग को सम्पूर्णरूप से आस्रव-बन्ध और संवर-निर्जरा, दोनों का कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन जब परिणामों में राग-अंश की मुख्यता करते हैं तो उसे सराग-चारित्र या शुभोपयोग कहते हैं और उसकी मुख्यता से पण्डित टोडरमलजी ने उस भाव (अंश) से आस्रव-बन्ध माना है और जब परिणामों में वीतराग-अंश की मुख्यता करते हैं तो

उसे वीतराग-चारित्र या शुद्धोपयोग कहते हैं और उसकी मुख्यता से पण्डित टोडरमलजी ने उस भाव (अंश) से संवर-निर्जरा मानी है।

जैसे, अंशकल्पना के अनुसार सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को स्वर्ग का भी कारण मानें और मोक्ष का भी; तथा उसके वीतरागभाव को संवर-निर्जरा का भी कारण मानें और आस्रव-बन्ध का भी; अर्थात् एक ही भाव को संसार का भी कारण मानें और मोक्ष का भी कारण मानें? इसमें कारण-विपर्यास आदि दोष अवश्य आएँगे?

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री कृत टीका में स्पष्ट लिखा है -

"यदि एकदेश गुणों की प्रगटता, एकदेश कर्मबन्ध का कारण होगी तो उनकी सर्वथा प्रगटता पूर्णरूप से कर्मबन्ध का कारण होना चाहिए।....जिसके जितना अधिक रागभाव है, उसी के अधिक कर्मबन्ध होता है, जिसके रागभाव की मात्रा कुछ कम है, उसके कर्मबन्ध भी कम होता है। जैसे, योगीजन बहुत अंशों में कषायभावों को नष्ट कर देते हैं, इसलिए उनके कर्म का भार भी बहुत हल्काहो जाता है।....अत: जिसके जितने अंश में रागभाव है, उतने अंश में कर्मबन्ध है। अर्थात् रागादि अशुद्धपरिणाम ही कर्मबन्ध का हेतु हैं, आत्मा के निजी गुण कर्मबन्ध के कारण नहीं हो सकते।.....जब पूर्ण रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नहीं है तो उसका एकदेश भी कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकता। जिसके सर्वदेश का जैसा स्वभाव है, उसके एकदेश का भी वही स्वभाव होगा।"

27-33. आचार्यों ने सातवें गुणस्थान में तो स्पष्टत: क्षायोपशमिक-चारित्र ही माना है, जबकि श्रेणी-आरोहण करते समय सातवें गुणस्थान में सातिशय-अप्रमत्त -अवस्था में अध:करण-परिणाम होने लगते हैं, तथापि चारित्र का क्षयोपशमभाव ही माना गया है।

लेकिन आठवें से दशवें गुणस्थान तक यद्यपि स्पष्टत: उपशम-श्रेणी या क्षपक-श्रेणी में चारित्र-मोह के उपशम या क्षय का उद्यम चालू हो गया है, श्रेणी चालू हो गई है, इस कारण उपचार से चारित्र का औपशमिकभाव या क्षायिकभाव माना है, तथापि चारित्र-मोह का सम्पूर्ण उपशम या क्षय, क्रमशः ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही होता है, अतः उसके पूर्व वास्तव में क्षयोपशमभाव ही मानना

उचित है, इस अपेक्षा आठवें से दशवें गुणस्थान तक पूर्ण शुद्धोपयोग भी नहीं है, वास्तव में अबुद्धिपूर्वक रागांश विद्यमान होने से पण्डित टोडरमलजी के शब्दों में शुभोपयोग ही है, शुद्धोपयोग नहीं; यही कारण है कि वहाँ यथाख्यात-चारित्र भी नहीं माना गया है।

इस प्रकार यदि श्रेणी में भी शुभोपयोग मानेंगे तो वहाँ क्षयोपशमभाव भी मानना अनुचित नहीं है, लेकिन आचार्यों ने वहाँ शुद्धोपयोग कहा है तो उस कारण उपचार से चारित्र का औपशमिकभाव या क्षायिकभाव भी माना है; इसीलिए जिनागम में निश्चय-व्यवहारनय की सन्धि मिलाना अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन यदि हम निश्चय-व्यवहारनय के परिज्ञान से च्युत हो जाते हैं तो हमें तत्त्वज्ञान के रहस्यों को सुलझाना भी कठिन हो जाता है।

श्रेणी में बुद्धिपूर्वक राग का सद्भाव नहीं होने से शुद्धोपयोग माना गया है – इसी नियम से चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भी यदा-कदा सामायिकादि के काल में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से कभी-कभी शुद्धोपयोग मानना योग्य है।

अधिकांशतः बुद्धिपूर्वक राग का सद्भाव होने से चौथे-पाँचवें गुणस्थान में अधिकांशतः शुद्धोपयोग नहीं है - ऐसा मानना योग्य है, लेकिन सर्वथा इन गुणस्थानों में शुद्धोपयोग होता ही नहीं – ऐसा मानना योग्य नहीं है। इस प्रकार इन गुणस्थानों में मुख्यता से शुद्धोपयोग नहीं है, शुभोपयोग है अथवा गौणरूप से शुद्धोपयोग भी है। इसी प्रकार आगे के सातवें से दशवें गुणस्थान तक मुख्यतया शुद्धोपयोग है और गौणता से शुभोपयोग या कषायांश भी है तथा ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में मुख्य-गौण का प्रश्न ही नहीं है अर्थात् सर्वथा शुद्धोपयोग ही है, शुभोपयोग बिल्कुल नहीं - ऐसा मानना उचित है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि क्षयोपशमभाव में जितने अंश, मोहनीय के उपशम या क्षय के निमित्त से हैं, उतना शुद्धोपयोग; तथा जितने अंश देशघाति के उदय के निमित्त से हैं, उतने अंश में शुभोपयोग या रागांश है – ऐसा मानना चाहिए अर्थात् गुणस्थान-परिपाटी में जहाँ जैसा योग्य है, उसी अनुपात में आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा की व्यवस्था मानना चाहिए।

– **डॉ. राकेश जैन शास्त्री**, जैनदर्शनाचार्य, नागपुर

मंगलाचरण

ब्र. हेमचन्द जैन का आगम-गर्भित पत्र

आदरणीया धर्मजिज्ञासु बहिन **प्रा. सौ. लीलावतीजी जैन**, (सम्पादिका, धर्ममंगल) सादर जय-जिनेन्द्र! दर्शन-विशुद्धि!!

अत्र स्वाध्याय-ध्यानाऽमृतपान-बलेन कुशलम्, तत्राऽप्यस्तु!

जब मैं पुणे आया था तो आपके साथ काफी तत्त्वचर्चा हुई थी, आपको जिनभाषित के सम्पादकीयों के बारे में कुछ शंकाएँ थीं। आपको उस समय तो अधिक समय नहीं दे पाया, परन्तु आपसे जो शंकाएँ, मैं लिखकर लाया था, उन पर तथा जिनभाषित के उन सम्पादकीय लेखों पर विद्वत्-परिषद् के कुछ विद्वानों ने भी ऐसी ही कुछ शंकाएँ मेरे से पूछी हैं।

पहले तो कुछ जवाब देने का मन नहीं हुआ। फिर जब उन विद्वानों से भी मेरी प्रत्यक्ष चर्चा हुई – जिनमें सर्वश्री डॉ. राजेन्द्रजी बंसल, ब्र. पं. राजमलजी, ब्र. यशपालजी जैन, डॉ. संजीव गोधा आदि मुख्य हैं और उनकी ओर से भी आपके प्रश्नों पर विस्तृत जवाब देने का सबका आग्रह रहा; अतः उसके जवाब में यह विस्तृत, आगम-प्रमाणपूर्वक चिन्तन, '**क्षयोपशम भाव चर्चा**' प्रस्तुत है।

हो सकता है कि ये दोनों लेख, इन विषयों का पूर्ण समाधान नहीं दे पाएँ, क्योंकि मैं भी अल्पबुद्धि हूँ, परन्तु आपको अनेकशः धन्यवाद देता हूँ कि इस बहाने मुझे धवलादि ग्रन्थों के माध्यम से उक्त विषयों का पुनः अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ; इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है, वह सब जिनागम का – प्रवचनसार एवं धवलादि ग्रन्थों का है। वही हम सबके लिए शरण्य है।

खैर! सोचता हूँ, जीवन के इस तृतीय चरण (पडाव) में शान्ति से अपने घर की छाँव में बैठकर, मुझे जिनवाणी का स्वाध्याय, और अधिक गहराई से करते रहना चाहिए, जिससे हमारा आचरण, कम से कम कुछ तो मोह–क्षोभ से रहित हो जाए। पं.श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार की 'मेरी भावना' सब जीवों की भावना भी बन जाए – ऐसी मेरी भी भावना है, अतः आपसे विशेष प्रार्थना है कि आप

इस विषय पर अन्य विद्वानों से भी चर्चा कर, समाधान प्राप्त कर लीजिए तथा अगर उचित लगे तो प्रकाशित करें, ताकि मुझे और सबको भी लाभ मिले।

श्रीमद् आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित **आप्तमीमांसा** की प्रत्येक कारिका **मंगलाचरणस्वरूप** है, अतः तत्त्ववेत्ता भक्त कह उठता है –

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते।।6।।

अर्थ – (हे वीर जिनेन्द्र भगवान!) वह निर्दोष (सर्वज्ञ) आप ही हैं, क्योंकि आपके वचन युक्ति-शास्त्र से अविरोधी हैं और यह अविरोध, इस तरह से लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है अर्थात् जीवादि तत्त्वों की प्ररूपणारूप जो आपका अनेकान्त-शासन है, वह प्रत्यक्षादि किसी प्रसिद्ध (प्रमाण) से बाधित नहीं होता है।

जैनदर्शन, जन-जन का दर्शन है। बस, सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्चारित्र की दो मात्रा लगते ही वह व्यक्ति, 'जन' से 'जैन' बन जाता है। किसी को भी जनमत या बहुमत से धर्म का निर्णय नहीं करना चाहिए। धर्म का निर्णय तो जिनमत से या जिनागम से अर्थात् चारों अनुयोगों से करना चाहिए।

जो व्यवहार-धर्मकार्य अभव्य भी कर सकता है, यदि वही कार्य, भव्य जीव भी कर दिखाये तो उसमें उनके भव्यत्व की भव्यता क्या रही? वस्तुतः तत्त्व-निर्णय बिना तत्त्वज्ञान ही सच्चा नहीं होता। तत्त्वज्ञान बिना शुद्धात्माभिमुख-उपयोगरूप **आत्मध्यान नहीं होता** और आत्मध्यान बिना स्वानुभवरूप **निश्चयसम्यग्दर्शन भी प्रगट नहीं होता।** सम्यग्दर्शन के बिना **ज्ञान** व **चारित्र** भी सम्यक् नहीं होते।

आत्मानुशासन, श्लोक 182 में संसार का बीज मोह को कहा है –

मोह-बीजाद्रति-द्वेषौ, बीजान्मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाऽग्निना दाह्यं, तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।।182।।

अर्थ – जैसे, बीज से वृक्ष की जड़ और अंकुर होता है, वैसे मोहरूपी मूल कारण (अज्ञान) से आत्मा को राग-द्वेष होते हैं; इसलिए जो जीव, राग-द्वेष का नाश करना चाहते हैं, **उन्हें ज्ञानरूपी अग्नि से मोह को दग्ध करना चाहिए।**

भावार्थ – अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव को मोह कहते हैं और पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनसे प्रीति-अप्रीति करना राग-द्वेष है, अतः अतत्त्वश्रद्धान से ही पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होते हैं; इसलिए जैसे, वृक्ष की जड़ और अंकुर का मूल कारण बीज है, वैसे राग-द्वेष का मूल कारण मोह को जानना चाहिए।

जैसे, अग्नि, बीज को जलाती है, वैसे, ज्ञान, मोह का नाश करता है। ज्ञान से जीवादि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जानने पर अतत्त्वश्रद्धान का नाश हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञान के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए। इतना करने से सर्व सिद्धि स्वयमेव हो जाती है।

सामान्य से सर्व संसारी जीवों के '**अनादि-सम्बन्धे च।**' (तत्त्वार्थसूत्र, 2/41) –इस सूत्रानुसार, तैजस और कार्मण – ये दो शरीर, अनादि से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। विशेष की अपेक्षा पहले के शरीरों का सम्बन्ध नष्ट होकर, उनके स्थान में नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है। जीव से सम्बद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को 'कार्मण शरीर' कहते हैं।

उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय – ये चार घातिकर्म हैं, तथा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु –ये चार अघातिकर्म हैं; इनमें 'ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय' – इन तीन घातिकर्मों की उदय, क्षय और क्षयोपशम – ये तीन अवस्थाएँ ही होती हैं और 'मोहनीयकर्म' (जिसके दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय – ये दो भेद हैं), उसकी 'उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम' – ये चारों अवस्थाएँ होती हैं। शेष चारों अघातिकर्मों की 'उदय और क्षय' – ये दो ही अवस्थाएँ होती हैं।

1. स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को 'उदय' कहते हैं और कर्मों के उदय के निमित्त से जीव का जो मलिन भाव होता है, उसे **औदयिकभाव** कहते हैं; इसके गति, जाति, लिंग आदि 21 भेद होते हैं।

2. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से मोहनीयकर्म की शक्ति के प्रगट न होने को 'उपशम' कहते हैं और दर्शन-मोह व चारित्र-मोह – इन कर्मों के उपशम से आत्मा का जो निर्मल भाव होता है, उसे **औपशमिकभाव** कहते हैं; इसके दो भेद हैं – **औपशमिक-सम्यक्त्व** एवं **औपशमिक-चारित्र।**

3. कर्मों के समूल विनाश होने को 'क्षय' कहते हैं। कर्मों के क्षय से जीव का जो निर्मल भाव होता है, उसे **क्षायिकभाव** कहते हैं; इसके ज्ञानादि नौ भेद होते हैं।

4. घातिकर्मों में 'सर्वघाति' और 'देशघाति' – दो प्रकार के स्पर्द्धक (परमाणु) होते हैं। जो जीव के सम्यक्त्व तथा ज्ञानादि अनुजीवी गुणों को पूरी तरह से घातें, उन्हें 'सर्वघाति स्पर्द्धक' कहते हैं और जो एकदेश घातें, उन्हें 'देशघाती स्पर्द्धक' कहते हैं।

वर्तमानकाल में उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय आने योग्य उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और देशघाती स्पर्द्धकों के उदयसहित कर्मों की अवस्था होने को 'क्षयोपशम' कहते हैं और कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से जीवों का जो मिश्रभाव होता है, जिसमें सर्वघाति स्पर्द्धकों के अनुदय से उत्पन्न निर्मलता तथा देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से उत्पन्न मलिनतारूप मिश्र-अवस्था होती है, उसे **क्षायोपशमिकभाव** कहते हैं; इसके ज्ञान-दर्शन आदि 18 भेद होते हैं।

5. जीव का जो भाव, कर्मों के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम की अपेक्षा न रखता हुआ, आत्मा का शुद्ध जीवत्वरूप स्वभाव मात्र हो, उसे **पारिणामिकभाव** कहते हैं। **यही पारिणामिकभाव, साधक अन्तरात्माओं के ध्यान का ध्येय होता है। यह भाव, द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्मों से रहित एक शुद्ध चिद्रूप अविनश्वर सत्तामात्र अनन्त गुण-धर्म-शक्तियों का पिण्डरूप चैतन्यभाव है, जो सदैव 'उपयोग-लक्षण' से लक्षित रहता है।**

ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अनादि से ही प्रगट क्षायोपशमिकभावरूप अवस्था, जीवों के अपने-अपने आवरण कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार पायी जाती है, जो बारहवें गुणस्थान तक रहती है। यही जीवों के स्वभाव का व्यक्त अंश है, जिससे जानन-देखन क्रिया सदैव होती रहती है।

श्रद्धा व चारित्रगुण की अनादि से ही औदयिकभावरूप अवस्था (मिथ्यात्व -कषायरूप अवस्था) जीवों के अपने-अपने मोहनीयकर्म के तीव्र-मन्द उदयानुसार पायी जाती है।

जब कोई भव्यात्मा, जिनोपदिष्ट तत्त्वों का श्रवण-ग्रहण कर शुद्धात्माभिमुख

(करणलब्धि में प्रविष्ट होकर) निर्विकल्प स्वसंवेदनपूर्वक प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है; तब **स्वरूपाचरणस्वरूप सम्यक्त्वाचरण** को प्राप्त करता है; पश्चात् सकलसंयमाचरणी होकर **यथाख्यात क्षायिकचारित्र** प्रगट कर सर्वज्ञ होकर **अरहन्तावस्था** पा जाता है और अघाति कर्मों का स्वयमेव क्षय होने पर अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त कर, सादि अनन्तकाल तक लोकाग्र में जा सुस्थित रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि औपशमिकभाव के बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती, क्षायिकभाव के बिना धर्म की पूर्णता नहीं होती, अरहन्त-सिद्ध नहीं होते। क्षायोपशमिकभाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं होता। औदयिकभाव के बिना कोई संसारी नहीं होता, और जीवत्वभाव/पारिणामिकभाव के बिना कोई जीव नहीं होता।

दिनांक - 07.09.2007

परम-पारिणामिक-भाव की विशेषताएँ

जीव के पाँच भावों में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, और औदयिक - ये चार भाव, पर्यायरूप हैं। यद्यपि जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - ये तीन भाव भी कर्म के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम के बिना होते हैं, इसलिए ये भी व्यवहारनय से जीव के असाधारण पारिणामिकभाव कहलाते हैं; तथापि शुद्धपारिणामिकभाव जो त्रिकाल एकरूप ध्रुव है, जो द्रव्यरूप होने से द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

जब जीव, अपने त्रिकाल, अखण्ड, ध्रुव, नित्य, शुद्ध पारिणामिक भाव की तरफ अपना लक्ष्य स्थिर करता है, तब औपशमिक सम्यक्त्वादि भाव प्रगट हो जाते हैं। आत्मा के निजतत्त्व में त्रिकाल लवलीन वर्तता हुआ, ऐसा पारिणामिकभावस्वरूप सहजज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है, इसलिए वही उपादेय है। आत्मा का पाणिामिक स्वभाव ध्रुव है, सदा एकरूप है, इसमें औदयिक आदि चार भावों का समावेश नहीं होता; इसलिए वह इन चार क्षायिक आदि भावों से अगोचर है अर्थात् पारिणामिकभाव, इन चार भावों के आश्रय से ज्ञात भी नहीं होता है।

सच्चे परीक्षा-प्रधानी बनो!

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति।।

अर्थ – जिस व्यक्ति को (खरे-खोटे का) निर्णय करने की बुद्धि नहीं है, उसके लिए शास्त्र क्या करें? जैसे, दोनों नेत्रों से विहीन व्यक्ति के लिए दर्पण क्या करेगा? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता।

वस्तुतः पूर्वाग्रह और पक्षपात को छोड़े बिना सत्यासत्य का निश्चय/निर्णय नहीं हो सकता। पूर्वाग्रह और पक्षपात को छोड़कर ही सत्य का शोध हो सकता है। जैसे, अज्ञानी पापी जीव, पाप-परिणति/पापाचरण छोड़ते नहीं और पापी भी कहलाना चाहते नहीं। निज आत्मा का लक्ष्य करते नहीं और सद्विचारों को गले लगाते नहीं एवं सदाचरण आचरते नहीं, फिर भी वे पुण्यात्मा-धर्मात्मा कहलाना चाहते हैं तो यह कैसे सम्भव हो?

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासी; तीनों प्रकार के दिगम्बर जैन अपने को सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, धर्मात्मा मानते हैं, दूसरों से भी मनवाना चाहते हैं, परन्तु निश्चय का आभास, व्यवहार का आभास और उभय का आभास, छोड़े बिना वे सच्चे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? वे तो सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यादृष्टि भी नहीं हो सकते। यथार्थ (भूतार्थ) का नाम निश्चय; उपचार(अभूतार्थ) का नाम व्यवहार – ऐसा समझे बिना समझ सही हो नहीं सकती। वस्तुतः अपनी अज्ञानता का आभास ही बुद्धिमत्ता के मन्दिर का प्रथम सोपान है।

जैनदर्शन/जैनधर्म पूर्णतः विज्ञान-आधारित दर्शन/धर्म है। आधुनिक विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास, विज्ञान को जैनदर्शन के समीप लाता जा रहा है। जैनदर्शन व्यक्ति-निष्ठ न कभी था, न है, और न रहेगा। वह तो सदैव से वस्तु-निष्ठ था, है, और रहेगा। महाकवि कालिदास ने अपनी कृति **'मालविकाग्निमित्रं'** में परीक्षा-प्रधानी व्यक्ति को ही ज्ञानी (सन्त) और परीक्षारहित अन्धविश्वासी को अज्ञानी मूढ़ कहा है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते, मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।1/2।।

अर्थात् सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं होता। समझदार व्यक्ति दोनों (नये और पुराने) की परीक्षा करके, उनमें से जो समीचीन हो; उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ नासमझ व्यक्ति ही दूसरे के कथनमात्र से विश्वास करता है।

आचार्य अमितगति, **अमितगति श्रावकाचार** में 'परीक्षा का महत्त्व' दर्शाते हुए लिखते हैं -

लक्ष्मीविधातुं सकलां समर्थं, सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम्।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः, सुवर्णवद्वंचनभीतचित्ताः।।1/29।।

अर्थात् विचारवान पुरुष तो सर्व समर्थ लक्ष्मी प्रदान करानेवाले धर्म को ठगाये जाने के भय से सुवर्ण की तरह भलीभाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

जयपुर के प्रकाण्ड विद्वान् पण्डित श्री चैनसुखदासजी ने **'प्रवचन प्रकाश'** नामक संकलन ग्रन्थ में मंगलाचरण में ही 'महादेव स्तोत्र', श्लोक 44 को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'हमारा नमस्कार किसको होना चाहिए? -

भवबीजांकुरजननाः, रागाद्यः क्षयमुपगताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

अर्थात् जिसने संसार के कारणभूत रागादि को क्षय कर दिया है, उसे ही मेरा नमस्कार हो। चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो या जिन (जिनेन्द्रदेव) हो।

समस्त जैनों की बाईबिल के नाम से प्रसिद्ध **तत्त्वार्थसूत्र** अपरनाम मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में आचार्यप्रवर श्रीमद् उमास्वामी ने व्यक्ति-विशेष की वन्दना न करते हुए, उस व्यक्ति के वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशीस्वरूप व्यक्तित्व को नमस्कार किया है, जिसमें ये गुण हों, वे भगवान हमारे लिए पूज्य हैं। किसलिए? कि उन जैसे गुण मुझमें भी प्रगट हों। वह इसप्रकार है -

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।

अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता (भेदनेवाले) हैं और सर्व तत्त्वों के ज्ञाता हैं; उनको मैं उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता हूँ।

देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की परीक्षा करनेवाले परीक्षक को, सर्वप्रकार से, सर्व ओर से, परीक्षा करने की जिनदेव की आज्ञा है; अतः चौकन्ना रहने की जरूरत है, क्योंकि सूत्र में कहा है –

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवाऽवर्णवादो दर्शन-मोहस्य।

अर्थात् 1. केवली, 2. श्रुत (शास्त्र), 3. संघ (निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु, ऋषि, मुनि, यति, अनगार अथवा दिगम्बर मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका) 4. धर्म (अहिंसा परमो धर्मः), 5. देव (देवगति के चार जाति के देव) – इन पाँचों के स्वरूप को अन्यथा प्ररूपित करना, मानना-मनवाना, आदि दर्शनमोहनीयकर्म के आस्रव का कारण है और यह एक दर्शनमोहनीयकर्म ही इस जीव को अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है।

परीक्षक पुरुष के गुण-धर्मों के बारे में आचार्य हरिभद्र सूरि ने **'लोक-तत्त्व-निर्णय'** आदि ग्रन्थों में परीक्षा के उपायों को दर्शाया है, वे लिखते हैं –

(1) **पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।**
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।

अर्थात् मुझे भगवान महावीर जिनेन्द्र से कोई पक्षपात नहीं है और अन्य कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है, परन्तु जिसके वचन सुयुक्तियों से युक्त हों (युक्ति-संगत हों), उसी का ग्रहण करना चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि **अपनी बुद्धि को कहीं गिरवी न रखें, परीक्षा-प्रधानी बनें।**

(2) **बन्धुर्न नः स भगवान रिपवोऽपि नान्ये,**
साक्षान्नदृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतयाश्रिताः स्मः।।

अर्थात् ये भगवान महावीर, मेरे कोई बन्धु नहीं हैं और अन्य-देव, मेरे कोई शत्रु नहीं हैं। मैंने तो उनमें से किसी को साक्षात् देखा भी नहीं है, परन्तु उनके वचनों को सुन कर और उनमें अलग ही विशेषता देख कर, गुणातिशयता की लाभ-भावना से मैंने वीर भगवान का ही आश्रय लिया है।

जैनदर्शन के सारभूत अनादि-निधन मन्त्र, **'णमोकार महामन्त्र'** में भी पंच परमेष्ठी की जो वन्दना की गयी है, वस्तुतः वह किसी सम्प्रदाय-विशेष की संकीर्ण

सीमा में परिबद्ध नहीं है, अपितु उसमें तो गुणों एवं व्यक्तित्व के विकास की वन्दना है, इसमें किसी भी जगह किसी जाति या सम्प्रदाय-विशेष की शब्दावली का प्रयोग नहीं हुआ है और न ही कहीं जैनधर्म का नामोल्लेख है, फिर जैनधर्म को साम्प्रदायिक धर्म कैसे कहा जा सकता है? व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास, उसके गुणों तथा त्याग के आधार पर होता है।

समाज, व्यक्ति को नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व को पूजता है, उसके गुणों की आरती उतारी जाती है।

इसी गुणज्ञता-वश **धवला 1, पृष्ठ 53-54** पर **प.पू. वीरसेनस्वामी** ने **'रत्नत्रयधारी आचार्य, उपाध्याय, साधु – इन तीनों परमेष्ठियों को अरिहंत-सिद्ध भगवन्तों की तरह सम्यग्दर्शनादि रत्नों की विद्यमानता के कारण उनमें देवत्व सिद्धकर प्रणाम-वन्दना करने योग्य कहा है।'**

वास्तव में तत्त्व-परीक्षक, निष्पक्ष एवं निराग्रही होता है और जिनधर्म, शत-प्रतिशत वस्तु-स्वरूप पर आधारित धर्म है; इसीलिए इसमें व्यक्तित्व आधारित गुण-धर्म की आराधना, निष्पक्ष-भाव से सिद्ध की गयी है।

ग्रन्थाधिराज श्री **प्रवचनसार** में आचार्य भगवन्त **श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव** ने भ्रमोत्पादक दर्शनमोह के नाश का प्रथम उपाय, गाथा 80 में जो बतलाया है, वह इसप्रकार है –

गाथा 80 के प्रथम उपाय में वे कहते हैं – **"जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है क्योंकि निश्चय से (द्रव्यदृष्टि से) दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अरहन्त जैसा ही मेरा आत्मा है – ऐसा जाननेवाले का दर्शन–मोह नियम से नष्ट हो जाता है।"**

दूसरा उपायान्तर बताते हुए गाथा 86 में **श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव** एवं उसकी **तात्पर्यवृत्ति टीका** में **आचार्य श्री जयसेन** लिखते हैं –

उत्थानिका – द्रव्य-गुण-पर्याय के परिज्ञान के अभाव में मोह होता है –ऐसा जो पहले (80वीं गाथा) में कहा था, उसके लिए आगमाभ्यास की प्रेरणा करते हैं अथवा द्रव्य-गुण-पर्यायत्व के द्वारा अर्हन्त का परिज्ञान करके, आत्म-परिज्ञान होता है –ऐसा जो पहले कहा था, उस आत्म-परिज्ञान के लिए भी आगमाभ्यास की अपेक्षा होती है; इस प्रकार दो उत्थानिकाओं को मन में रखकर, 86वीं गाथा में उपायान्तर कहते हैं –

जिणसत्थादो अट्ठे, पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।

अर्थात् जो जिन-शास्त्र (सर्वज्ञ-प्रणीत आगम) द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को याथातथ्यरूप से जानता है, उसका मोहोपचय नियम से क्षय को प्राप्त हो जाता है; इसलिए शास्त्र का (जिनवाणी/जिनागम का) सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए अर्थात् तत्त्वों को सही-सही भावभासनपूर्वक जानना चाहिए।

तात्पर्यवृत्ति टीका – ''कोई भव्य, वीतराग-सर्वज्ञदेव द्वारा कथित शास्त्र से 'एक मेरा शाश्वत आत्मा' इत्यादिरूप से परम (उत्कृष्ट) आत्मा का उपदेश देनेवाले श्रुतज्ञान द्वारा सर्वप्रथम आत्मा को जानता है और उसके बाद विशिष्ट अभ्यास के वश से परम-समाधि के समय रागादि विकल्पों से रहित मानस-प्रत्यक्ष (स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष) से उसी परम आत्मा को जानता है अथवा उसी प्रकार से उसे अनुमान से जानता है।

जैसे, निश्चयनय से इस वर्तमान शरीर में ही शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाववान् परम उत्कृष्ट आत्मा (त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा) है।

शंका – 'शरीर में ही निज परमात्मा है' – यह कैसे जाना?

समाधान – जैसे, सुखादि का स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार निर्विकार स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष से शरीर में ही निज परमात्मा को जाना जाता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी यथासम्भव आगम-अभ्यास के बल से उत्पन्न प्रत्यक्ष -ज्ञान अथवा अनुमान-ज्ञान से जाने जाते हैं; इसलिए भव्य मोक्षार्थी को आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए – यह तात्पर्य है।''

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 216 पर इस विषय में **शंका-समाधान** प्रस्तुत करते हैं –

''शंका – 'छद्मस्थ से अन्यथा (प्रकार से) परीक्षा हो जाए तो वह क्या करे?'

समाधान – सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से सच्ची ही परीक्षा होती है, जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करें, वहाँ अन्यथा परीक्षा होती है।

शंका – तथा वह कहता है कि शास्त्रों में परस्पर-विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन-किन की परीक्षा की जाए?

समाधान – मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म, जीवादि-तत्त्व व बन्ध-मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रों में यह सच्चे कहे हों, उनकी सर्व आज्ञा मानना, जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हों, उनकी आज्ञा नहीं मानना।''

अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा की टीका) में आज्ञा-प्रधानी से परीक्षा-प्रधानी को उत्तम (श्रेष्ठ) कहा है। हाँ, जो पदार्थ, प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नहीं है और सूक्ष्मपने से जिनका निर्णय नहीं हो सकता, उनका तो आज्ञा-प्रधानी होकर श्रद्धान करना, क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ-वीतराग हैं, वे अन्यथावादी नहीं होते।

जैनदर्शन, किसी भी जीव को पापों में जाने नहीं देता और पुण्य को धर्म मानने नहीं देता; यद्यपि वह व्यवहार से पुण्य को धर्म कहने देता है, और पाप से बचने के लिए पुण्य करने भी देता है; व्यवहार-दृष्टि से पाप-पुण्य में भेद भी है, तथापि निश्चय से दोनों की एक जाति है। यद्यपि पुण्य ऊर्ध्वमुखी है, पाप अधोमुखी है, तथापि दोनों परोन्मुखी हैं, बन्धन-कर्त्ता हैं। धर्म स्वोन्मुखी है, स्वाश्रय से होता है, संवर-निर्जरा रूप है; इसीलिए कहा है –

जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम-अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके।।

उक्त कथन का सार यही है कि '**इस जगत् में मिथ्या (गलत) मान्यता जैसी कोई गरीबी नहीं है और सम्यक् या सही मान्यता जैसी कोई अमीरी नहीं है। सर्व दुःखों की जड़ एकमात्र मिथ्या मान्यता ही है, शेष सब कथनमात्र ही है।**' परीक्षा-प्रधानी बनने हेतु स्व. मुनिराज श्री वीरसागरजी मुनिवर, सदैव सामयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय-प्रेमियों को प्रेरणा देते थे कि वे परीक्षामुख, न्यायदीपिका, प्रमेयरत्नमाला, अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि न्याय-ग्रन्थों को अवश्य पढ़ें। क्योंकि न्याय-ग्रन्थ, द्रव्यानुयोग के ही शास्त्र हैं; उससे प्रमाणज्ञान-नयज्ञान, कारण-कार्य व्यवस्था, भलीभाँति समझ में आती है।

'ॐ सहज चिदानन्द'

दिनांक 27.08.2007 – **ब्र. हेमचन्द जैन, 'हेम'** (देवलाली)

प्रथम चर्चा

आचार्यश्री विद्यासागरजी के साथ चर्चा

[श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र, रामटेक (नागपुर) में 20 सितम्बर 1994, क्षमावाणी दिवस पर आचार्य श्री विद्यासागरजी मुनि महाराज के साथ ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम' (भोपाल) की, डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य (नागपुर) की उपस्थिति में हुई तत्त्वचर्चा]

आदरणीया धर्मबहिन लीलावतीजी, आपने पूछा था कि क्या कभी क्षायोपशमिक-भाव / मिश्रभाव के बारे में मेरी आचार्यश्री से प्रत्यक्ष चर्चा हुई है? -यदि नहीं हुई तो प्रत्यक्ष में जाकर एक बार कर लेनी चाहिए; तब मैंने आपको कहा था कि 'हाँ! चर्चा हुई थी'; उसी चर्चा का सार-संक्षेप, आपके कहने पर यहाँ साक्षात्कार की शैली में प्रस्तुत कर रहा हूँ -

ब्र. हेमचन्द - आचार्यश्री ! पिछले वर्ष मैंने मोक्षमार्गप्रकाशक का अंग्रेजी अनुवाद की प्रकाशित प्रति आपके अवलोकनार्थ/समालोचनार्थ भिजवायी थी, तत्सम्बन्ध में अनुवाद आदि सम्बन्धी कोई त्रुटि हो तो जरूर बताइए।

आचार्यश्री - आपने अनुवाद बहुत अच्छा किया है। ऐसी कोई त्रुटि, उसमें नहीं दिखी। हाँ, तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ कि पण्डित टोडरमलजी ने पृ.27 पर जो 'मिश्रयोग' होने की बात लिखी है, उससे तुम क्या समझे? क्योंकि एक काल में तो एक ही शुभ या अशुभ योग होता है?

ब्र. हेमचन्द - आचार्यश्री! वस्तुतः एक समय में एक ही शुभ या अशुभ योग होता है, तथापि मैं अल्पमति ऐसा समझता हूँ कि मन-वचन-काय की चेष्टा से आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दरूप जो योग है, उसमें यदि मात्र मन, शुभ-क्रियारूप आचरण छोड़कर, अशुभ विचार (विकल्प) में चला गया तो मिश्र योग बन सकता है, क्योंकि वचन और काया से तो पूजा-भक्तिरूप या शुभ-क्रियारूप योग चल रहा होता है, अथवा अशुभ क्रिया में प्रवर्तते समय मन वैराग्यरूप कुछ शुभभावरूप चिन्तवन में चला जाए तो भी मिश्रयोग कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें घातिया-अघातियारूप

पुण्य-पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का आस्रव-बन्ध एक समय में हो रहा होता है। उदाहरणार्थ, क्षायिक सम्यग्दृष्टि - राजा श्रेणिक के जीव को अभी नरक में अन्य नारकियों से लड़ते वक्त भी तीर्थंकर-महापुण्य-प्रकृति के बन्ध के साथ अन्य ज्ञानावरणादि घातियारूप पाप-प्रकृतियों का भी बन्ध होता है। इस प्रकार ऐसी परिस्थिति में मिश्रयोग से हुआ कार्य कहा जा सकता है। लेकिन पुण्य-पाप का भेद, अघातिया-प्रकृतियों में ही है, घातिया तो एकान्ततः पाप-प्रकृतियाँ ही हैं।

आचार्यश्री – अच्छा, तो तुम शुभ या अशुभ योग के काल में पुण्य व पाप, दोनों प्रकार की प्रकृतियों के युगपत् होनेवाले आस्रव-बन्ध को मिश्रयोग से हुआ कार्य मानते हो?

ब्र. हेमचन्द – हाँ ! मैंने तो ऐसा ही समझा है महाराजजी! करणानुयोग का विशेष अभ्यास तो मुझे है नहीं।

आचार्यश्री – अच्छा! अब दूसरी बात पूछता हूँ। तुम मुनिराज के कौनसा चारित्र प्रगट हुआ मानते हो?

ब्र. हेमचन्द – मुनिराज के?

आचार्यश्री – हाँ, ज्ञानी मुनिराज की बात पूछ रहा हूँ। उनका कौनसा चारित्र होता है?

ब्र. हेमचन्द – जी, ज्ञानी भावलिंगी मुनियों को (छठे-सातवें गुणस्थान में) क्षायोपशमिक-चारित्र होता है।

आचार्यश्री – उस क्षायोपशमिक चारित्र से संवर-निर्जरा होती है या नहीं?

ब्र. हेमचन्द – होती है, अवश्य होती है, गुण-श्रेणी-निर्जरा होती है, निरन्तर होती रहती है।

आचार्यश्री – और क्षायोपशमिक-चारित्र महाव्रतों के बिना होता नहीं, अतः महाव्रतों से संवर-निर्जरा होती है, यह बात स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाती है – ऐसा मानते हो या नहीं?

ब्र. हेमचन्द – नहीं मानता महाराजजी ! क्योंकि महाव्रत पालने का भाव संज्वलन के उदय से होनेवाला शुभभाव है, उससे तो पुण्य-बन्ध होता है। महाव्रतरूप सरागचारित्र से निर्जरा कहना, उपचार-कथन-मात्र है।

आचार्यश्री – क्यों? – क्यों नहीं मानते? यहीं तुम्हारी भूल है? क्या क्षायोपशमिक-चारित्र, महाव्रतों के बिना हो सकता है?

ब्र. हेमचन्द – मेरी भूल हो तो क्षमा करें महाराजजी, मुझे वैसे आगम से इसमें कोई भूल दिखायी नहीं देती, क्योंकि सरागांश ही बन्ध का कारण होता है, वीतरागांश नहीं। यद्यपि महाव्रती को ही (सकल-संयमी को ही)क्षायोपशमिक-चारित्र प्रगट होता है, यह सत्य है; तथापि महाव्रतरूप शुभभावों से पुण्यबन्ध होता है, *अन्यथा महाव्रतों का* निरतिचाररूप पालन करनेवाले नवम-ग्रैवेयक-पर्यन्त जानेवाले मिथ्यादृष्टि, ग्यारह अंग, नौ पूर्व के पाठी द्रव्यलिंगी मुनिराजों के भी निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप संवर-निर्जरातत्त्व प्रगट हुए मानना पड़ेंगे।

आचार्यश्री – मैंने ज्ञानी भावलिंगी मुनियों की बात पूछी है?

ब्र. हेमचन्द – हाँ महाराजजी ! तीन कषाय-चौकड़ी के अभाव/अनुदय से प्रगट हुई शुद्धता अर्थात् वीतरागतारूप शुद्धपरिणति से तो संवर-निर्जरा होती है, लेकिन संज्वलन-कषाय के उदय से प्रगट हुए शुभभाव (सराग-संयमाचरणरूप) या महाव्रतों से पुण्यबन्ध निरन्तर एक साथ होता रहता है। इसी से क्षायोपशमिक-चारित्र को मिश्रभाव संज्ञा है, क्योंकि पूर्ण वीतरागता अभी प्रगट हुई नहीं है। जो सरागांश है, उससे बन्ध और जो वीतरागांश है, उससे संवर-निर्जरा – ऐसा मैं मानता हूँ।

आचार्यश्री – इसका मतलब है कि तुम चारित्रगुण की एक साथ दो पर्यायें मानते हो, क्षायोपशमिक और औदयिक? क्या यह सम्भव है? क्या एक ही पर्याय से दोनों कार्य मानना चाहिए?

ब्र. हेमचन्द – नहीं महाराजजी! मैं एक गुण की एक समय में दो पर्यायें नहीं मानता हूँ, होती भी नहीं है; परन्तु क्षायोपशमिक-पर्याय में संज्वलन का उदयांश भी तो शामिल है; इसी कारण तो उसको 'मिश्रभाव' कहा है।

आचार्यश्री – तो फिर तुम महाव्रतों को क्षायोपशमिक-पर्याय से भिन्न औदयिक क्यों सिद्ध कर रहे हो? फिर हम पूछते हैं, उसे मिश्रभाव कहाँ कहा है? तुम्हें एक महाव्रतरूप कारण से दो कार्य हो सकने में क्या विरोध दिखायी पड़ता है? शुभभावों से निर्जरा नहीं मानी जाएगी तो आगम से विरोध होता है, समझे?

ब्र. हेमचन्द – क्षमस्व महाराजजी! तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र

में 'मिश्रभाव', क्षायोपशमिक भाव के लिए ही आया है। जैसे, शीतकाल में हम लोग गर्म पानी से नहाते हैं तो वह पानी वस्तुतः शीतोष्ण(मिश्र)रूप ही होता है, न अधिक गर्म कि जिससे जल जायें, न अधिक शीतल कि जिससे सर्दी लग जाये।

आचार्यश्री – यह उष्ण पानी वाला दृष्टान्त, तुम्हारे पं. राजमलजी ने भी दिया था। देखो, समझो, क्षायोपशमिक-भाव को बलात् औदयिक-भाव सिद्ध मत करो।

ब्र. हेमचन्द – ठीक है महाराजजी ! मैं इस विषय पर पुनिर्विचार करूँगा, वैसे मैं 'मिश्रभाव' को औदयिक नहीं मानता हूँ। आचार्यश्री! कुछ वाचालतावश अविनय हुई हो तो क्षमा चाहता हूँ। महाराजजी! अन्त में मैं अपनी एक आन्तरिक पीड़ा, जो जिनवाणी के अविनय/अनादर से सम्बन्धित है, आपके सामने रखना चाहता हूँ। आपने 1977-78 में नैनवाँ (राजस्थान) में और गौहाटी (आसाम) में सोनगढ़/जयपुर से प्रकाशित समयसारादि ग्रन्थों को जल/बावड़ी में डलवाये जाने से व्यथित होकर, मेरे एवं स्व. पण्डित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री (कटनी) के अनुरोध/निवेदन करने पर एक वक्तव्य दिया था, जो उससमय सभी पत्र-पत्रिकाओं में छपा था कि '**जिनवाणी कहीं से भी प्रकाशित क्यों न हो? उसका बहिष्कार-तिरस्कार, अविनय / अनादर रंच मात्र भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसमें णमोकार मन्त्र एवं पूर्वाचार्यों की मूल गाथाएँ / सूत्र छपे होते हैं; अन्यथा महा पाप-बन्ध होने से कुगति-गमन होगा।**'

ब्र. हेमचन्द एवं पं. राकेश शास्त्री – अगर आपकी अनुमति हो तो हम आपके इस वक्तव्य को आपके नाम से पुनः छपवा दें?

आचार्यश्री – नहीं, मैं इस विषय पर अभी कुछ नहीं कहना चाहता। आप लोग पुण्य को हेय बतला कर, लोगों को पाप में धकेल रहे हो।

ब्र. हेमचन्द – नहीं, ऐसा नहीं है महाराजजी! यह कथन, तत्त्व-दृष्टि की अपेक्षा से किया गया है.....। खैर, कुछ गलती हुई हो तो क्षमा कीजिए आचार्यश्री!

(**विशेष टिप्पणी** – और भी शुद्धोपयोग आदि विविध विषयों पर बहुत देर तक चर्चा हुई थी, परन्तु 'क्षायोपशमिक-भाव'के सम्बन्ध में इतनी ही चर्चा हुई थी, अतः अन्य चर्चा को यहाँ विस्तार-भय से टाल रहा हूँ।

– ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'

*****

द्वितीय चर्चा

क्षायोपशमिक भाव : आगम-प्रमाण

(1) धवला, पु. 5 (4/194)

पडिबंधिकम्मोदए संते ..... खओवसमिओ।

अर्थ – प्रतिबन्धी कर्म का उदय होने पर, जो जीव के गुण का अवयव पाया जाता है, वह **गुणांश क्षायोपशमिक** कहलाता है, क्योंकि गुणों के सम्पूर्णरूप से घातने की शक्ति का अभाव 'क्षय' कहलाता है। क्षयरूप ही जो 'उपशम' होता है, वह 'क्षयोपशम' कहलाता है। उस क्षयोपशम में उत्पन्न होनेवाला **भाव क्षायोपशमिक** कहलाता है।

(2) धवला, पु. 12 (254/457)

ण च सुहुम .... सण्णाणुवत्तीदो वा।

अर्थ – सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान में मोहनीय का भाव नहीं हो – ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि **भाव के बिना द्रव्यकर्म के रहने का विरोध है।** अथवा वहाँ भाव के न मानने पर 'सूक्ष्म साम्परायिक' यह संज्ञा ही नहीं बनती है।

(3) कषायपाहुड, 1/1 (पृ. 60)

तं च कम्मं सहेअं .... विरायदादो।

अर्थ – जीव से सम्बद्ध कर्म को सहेतुक ही मानना चाहिए, अन्यथा निर्व्यापार अर्थात् अयोगियों के भी कर्मबन्ध का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। (वस्तुतः) **उस कर्म के कारण मिथ्यात्व, असंयम और कषाय हैं; सम्यक्त्व, संयम व वीतरागता नहीं।**

(4) धवला, पु. 7 (49/92)

सव्वघादिफद्दयाणि.......खओवसमो णाम।

अर्थ – सर्वघाति स्पर्द्धक, अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्द्धकों में

परिणत होकर उदय में आते हैं; उन सर्वघाति स्पर्द्धकों का अनन्तगुण-हीनत्व ही 'क्षय' कहलाता है और उनका देशघाति स्पर्द्धकों के रूप से अवस्थान होना 'उपशम' है; **उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय, 'क्षयोपशम' कहलाता है।**

(5) धवला, पु. 5 (1/185)

कम्मोदये संते .... खओवसमियो भावो णाम।

अर्थ – कर्मों के उदय होते हुए भी जो जीव-गुण का खण्ड (अंग) उपलब्ध रहता है, वह **'क्षायोपशमिक भाव'** है।

(6) धवला, पु. 1 (14/177)

पञ्चसु गुणेषु .... प्रत्याख्यानसमुत्पत्तेः।

प्रश्न – पाँचों भावों में से किस भाव का आश्रय लेकर, यह प्रमत्त-संयत गुणस्थान उत्पन्न होता है?

उत्तर – संयम की अपेक्षा यह **'क्षायोपशमिक'** है।

प्रश्न – क्षायोपशमिक किस प्रकार है?

उत्तर – क्योंकि वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाति स्पर्द्धकों के **'उदय-क्षय'** होने से और आगामी काल में उदय में आनेवाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आने रूप **'उपशम'** से तथा संज्वलन कषाय के उदय से **प्रत्याख्यान** अर्थात् **संयम** उत्पन्न होता है; इसलिए 'क्षायोपशमिक' है। (इसी प्रकार **अप्रमत्तसंयत गुणस्थान** भी **क्षायोपशमिक** है। **(– और देखिए, धवला, पु.1, 15/180)**

(7) धवला, पु. 1 (13/175)

औदयिकादि पञ्चसुगुणेषु .... प्रत्याख्यानानुपपत्ते।

प्रश्न – औदयिकादि पाँचों भावों में से किस भाव के आश्रय से **'संयमासंयम भाव'** पैदा होता है?

उत्तर – संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के वर्तमानकालिक सर्वघाति स्पर्द्धकों के **उदयाभावी क्षय** होने से और आगामी काल में उदय में आने योग्य उन्हीं के **सदवस्था रूप उपशम** होने से तथा

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के **उदय** से **संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान चारित्र** उत्पन्न होता है।

प्रश्न – संयमासंयमरूप देशचारित्र के आधार से सम्बन्ध रखने वाले कितने सम्यग्दर्शन होते हैं?

उत्तर – क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक – इन तीनों में से कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्प से होता है; क्योंकि **उनमें से किसी एक के बिना अप्रत्याख्यान चारित्र का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता।**

शंका – सम्यग्दर्शन के बिना भी देशसंयमी देखने में आते हैं?

उत्तर – नहीं, क्योंकि जो जीव, मोक्ष की आकांक्षा से रहित हैं और जिनकी विषय-पिपासा दूर नहीं हुई, उनके **अप्रत्याख्यान संयम** की उत्पत्ति हो नहीं सकती है।

(8) धवला, पु. 1 (130/380)

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयता ...... शेषपापक्रियत्वात्।

प्रश्न – कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते हैं?

समाधान – नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

प्रश्न – सिद्ध जीवों के कौनसा संयम होता है?

समाधान – एक भी संयम नहीं होता, उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्ति का अभाव होने से वे संयत नहीं हैं, इसलिए वे संयतासंयत भी नहीं हैं और असंयत भी नहीं हैं, क्योंकि उनके सम्पूर्ण पाप-क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं।

(9) धवला, पु. 7 (56/96)

संजमो णाम जीव-सहाओ ...लक्खणत्ताभावादो।

प्रश्न – संयम तो जीव का स्वभाव ही है, इसलिए वह अन्य के द्वारा अर्थात् कर्मों के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका विनाश होने पर जीवद्रव्य के भी विनाश का प्रसंग आता है?

उत्तर – नहीं आयेगा, क्योंकि जिसप्रकार उपयोग जीव का लक्षण माना गया

है, उसप्रकार संयम जीव का लक्षण नहीं है।

समीक्षा – उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि – **चारित्र तो जीव का स्वभाव है, पर संयम नहीं। संयम तो हिंसादि सावद्य योग के त्याग का नाम है।** जो त्रसादि की हिंसा से निवृत्त होने से एकदेश हो तो अणुव्रत और सर्वसावद्य योग से सर्वदेश-निवृत्ति हो तो महाव्रत रूप संयम होता है; जबकि चारित्र नाम वीतरागता का है, जो महाव्रत रूप संयम के पालनेरूप निमित्त (उचित बहिरंग-साधन की सन्निधि) की अनुकूलता में स्वभाव के आश्रय से व्यक्त होता है और सादि-अनन्तकाल तक वर्तता रहता है।

दूसरे शब्दों में कहा जाए तो संयम तो अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति रूप होता है और चारित्र, शुभ व अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्ति रूप तथा शुद्धात्मा में प्रवृत्ति रूप शुद्धपरिणति रूप (स्वरूपाचरण रूप, सकल कषाय रहित एक वीतराग भाव रूप) होता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में अणुव्रतों-महाव्रतों को भी आस्रवपदार्थ का निरूपण करते हुए शुभ आस्रव रूप कहा है। आस्रव, बन्ध का साधक तथा चारित्र, मोक्ष का साधक अर्थात् संवर-निर्जरा रूप होता है।

इस सम्बन्ध में और भी आगम-प्रमाण उपलब्ध हैं, देखिए –

(10) राजवार्तिक – अध्याय 9 सूत्र 18 पृष्ठ 617

स्यादेतत् दशविधो ...... साक्षात्कारणमिति ज्ञापनाय।

प्रश्न – दश प्रकार का धर्म कहा गया है, तहाँ संयम नाम के धर्म में चारित्र का अन्तर्भाव प्राप्त होता है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि सकल कर्मों के क्षय का कारण होने से चारित्र, मोक्ष का साक्षात् कारण है; इसलिए **'स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः, एवं सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्।'** (– राजवार्तिक, अ. 9, सूत्र 2 एवं 6, पृ. 596) इस सूत्र में चारित्र का अन्त में ग्रहण किया गया है।

प्रश्न – तब फिर संयम क्या है?

उत्तर – समितियों में प्रवर्तमान जीव के प्राणि-वध व इन्द्रिय-विषयों का परिहार, संयम कहलाता है।

(11) प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा 7 (चारित्तं खलु धम्मो)

स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः।

अर्थ – स्वरूप में आचरण करना, रमना सो चारित्र है। स्वसमय में अर्थात् स्वभाव में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। यह वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होने से धर्म है।

(12) बृहद् नयचक्र, गाथा 356

समदा तह मज्झत्थं, सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो, सहाव आराहणा भणिया॥356॥

अर्थ – समता, माध्यस्थ, शुद्धभाव (शुद्धोपयोग), वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना – ये सब एकार्थवाची हैं। (इसमें संयम, व्रत, समिति, आवश्यक आदि का समावेश नहीं) क्योंकि इनमें पुण्य का परिहार नहीं।

(13) मोक्षपाहुड, गाथा 37

जं जाणइ तं णाणं, जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं, परिहारो पुण्णपावाणं॥37॥

अर्थ – जो जाने, वह ज्ञान है; जो देखे, वह दर्शन है; और जो पुण्य तथा पाप का परिहार है, वह चारित्र है; इस प्रकार जानना चाहिए।

(14) धवला, पु. 14 (16/12)

संजम विरईणं को भेदो? ....महव्वयाणुव्वया विरई।

प्रश्न – संयम और विरति में क्या भेद है?

उत्तर – समितियों के साथ महाव्रत और अणुव्रत, संयम कहलाते हैं और समितियों के बिना महाव्रत और अणुव्रत, विरति कहलाते हैं।

समीक्षा - परमार्थतः आठवें-नौवें-दसवें - इन तीन गुणस्थानों में चारित्र क्षायोपशमिक ही होता है, तथापि प्रतिबन्धक मरण के अभाव में नियम से चारित्रमोह का उपशम करनेवाले एवं क्षय करनेवाले (उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी आरोहणकर्ता) ऋषिराजों को भावी अर्थ में भूतकालीन अर्थ के समान

उपचार कर लेने से उपशमक और क्षपक संज्ञारूप व्यवहार की सिद्धि हो जाती है।

इसका खुलासा (धवला, पु. 1, सूत्र 16, पृष्ठ 183) पर अपूर्वकरण गुणस्थान समझाते हुए किया गया है ।

(15) धवला, पु. 1, सूत्र 16, पृष्ठ 183

शंका – क्षपण-निमित्तक परिणाम भिन्न हैं और उपशमन-निमित्तक परिणाम भिन्न हैं; उनमें एकत्व कैसे हो सकता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि क्षपक और उपशमक परिणामों में अपूर्वपने की अपेक्षा साम्य होने से एकत्व बन जाता है।

शंका – पाँच प्रकार के भावों में से इस **अपूर्वकरण गुणस्थान** में कौनसा भाव पाया जाता है?

समाधान – क्षपक के क्षायिक और उपशमक के औपशमिक भाव पाया जाता है।

शंका – इस गुणस्थान में न तो कर्मों का क्षय ही होता है और न उपशमन ही होता है – ऐसी अवस्था में यहाँ पर क्षायिक या औपशमिक भाव का सद्भाव कैसे हो सकता है?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस गुणस्थान में क्षायिक और औपशमिक भाव का सद्भाव उपचार से माना गया है।

समीक्षा – सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपकश्रेणी वाला क्षायिक भाव सहित अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्वी ही होता है और उपशम श्रेणी वाला औपशमिक तथा क्षायिक भाव सहित अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व, दोनों ही सम्यक्त्वों से उपशम श्रेणी चढ़ सकता है।

एक और विशेष बात, जो यहाँ ध्यान देने योग्य है कि 'संयत' शब्द का प्रयोग छठे से दसवें गुणस्थान तक के सकल संयमी जीवों के लिए ही किया जाता है, उपशान्त कषाय आदि ऊपर के गुणस्थानों में 'संयत' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है, क्योंकि संयम धारण करने का फल जो पूर्ण अकषायरूप वीतरागता है, वह वहाँ प्रगट हो चुकी है।

(16) धवला, पु. 1, सूत्र 17, पृष्ठ 186

शंका – यदि ऐसा है तो उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में भी 'संयत' पद का ग्रहण करना चाहिए?

समाधान – नहीं, क्योंकि दसवें गुणस्थान तक सभी जीव, कषाय सहित होने के कारण, कषाय की अपेक्षा संयतों की असंयतों के साथ सदृश्यता पायी जाती है, इसलिए यथाख्यात संयम के नीचे, दसवें गुणस्थान तक मन्दबुद्धिजनों को संशय उत्पन्न होने की सम्भावना है; अतः संशय के निवारण के लिए संयत विशेषण देना आवश्यक है, किन्तु ऊपर के उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में मन्दबुद्धिजनों को भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि वहाँ पर संयत क्षीणकषाय अथवा उपशान्तकषाय ही होते हैं; इसलिए वहाँ भावों की अपेक्षा भी संयतों की असंयतों से सदृश्यता नहीं पायी जाती है, अतएव यहाँ पर संयत विशेषण देना आवश्यक नहीं।

समीक्षा – वस्तुतः ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में राग (कषाय) का पूर्णतः उपशम एवं क्षय हुआ होने से चारित्रगुण की पूर्ण वीतराग रूप शुद्ध अवस्था प्रगट हुई होने से 'वीतराग छद्मस्थ' विशेषण लगाये जाते हैं।

उक्त आगम-प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो रहा है कि चारित्र (रागरहित वीतराग अकषायरूप परिणाम) जीव का स्वभाव है और सरागसंयम (सम्यक्त्वाचरण -पूर्वक होनेवाला संयमाचरण) शुभरागरूप-सकषायरूप अपहृत-संयमरूप परिणाम, जीव का स्वभाव तो नहीं है; तथापि उस वीतराग-स्वभावरूप चारित्र की प्राप्ति का बाह्य साधन अवश्य है।

इसलिए जिन-दीक्षा-ग्रहण-कर्ता भव्य, निश्चय पंचाचाररूप उस वीतरागचारित्र का साधक-निमित्त होने से व्यवहार पंचाचाररूप ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार को, जो कि निश्चयनय से शुद्धात्मा का नहीं है; उसे तब तक अंगीकार करता है, जब तक कि शुद्धात्मा को उपलब्ध न कर ले। इस सरागसंयम को (यदि वह सम्यक्त्वाचरणचारित्र सहित हो तो) व्यवहार चारित्र, भेद रत्नत्रय, अपहृत संयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग, पूर्ण इन्द्रिय-संयम व पूर्ण प्राणि-संयम आदि अनेक नामों से कहा जाता है।

सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो बाह्य नग्नतादि रूप बहिरंग परिग्रहरहित मुनि-

दशा को द्रव्यलिंग तथा मिथ्यात्व-कषायादि रहित, अन्तरंग परिग्रह रहित मुनिदशा को भावलिंग कहा है।

परमार्थतः जो मुनिचर्या के योग्य संज्वलन कषाय के उदय से होनेवाला अट्ठाईस मूलगुणों के निरतिचार पालनेरूप शुभराग रूप शुभोपयोग है, वह निश्चय से द्रव्यलिंग है और अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय-चौकड़ी के अनुदय से आत्मा में प्रगट शुद्ध परिणति रूप वीतरागता है, वह निश्चय से भावलिंग है अर्थात् व्यवहार भेदरत्नत्रय रूप आत्मा का सराग-परिणाम ही द्रव्यलिंग है और निश्चय अभेदरत्नत्रय रूप आत्मा का वीतराग-परिणाम ही भावलिंग है; इसे परम-उपेक्षा-संयम भी कहते हैं।

बस, चारित्रगुण की इस एक मिश्र रूप अवस्था, जिसमें संज्वलन कषाय-प्रमाण सरागता तथा तीन कषायों के अनुदय/अभाव रूप वीतरागता होती है, उसको ही 'क्षायोपशमिक-चारित्र' संज्ञा है।

वस्तुतः जिस-जिस गुणस्थान में जितने-जितने अंशों में चारित्र मोहोदयजन्य कषायें मिटती जाती हैं, उतने-उतने अंशों में उन-उन जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट अन्तरात्माओं में निराकुलत्वलक्षणा आत्मोत्पन्न आत्मिक सुख-शान्ति रूप वीतरागता की उत्पत्ति व वृद्धि होती जाती है और **इस वीतरागता रूप अंकुर की उत्पत्ति, जघन्य अन्तरात्मा 'अविरत सम्यग्दृष्टि' याने चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होकर, वृद्धिंगत होते-होते बारहवें 'क्षीणमोह जिन' गुणस्थान में पूर्ण शुद्धोपयोग रूप यथाख्यात चारित्र रूप पूर्णता में परिणत हो जाती है।**

जो इस परमार्थ-स्वरूप वस्तु-स्थिति को नहीं स्वीकारता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है; इसकी साक्षी समस्त जिनागम में है। एक प्रमाण, प्रवचनसारजी की गाथा 238 (जं अण्णाणि कम्मं खवेदि ....) की तात्पर्यवृत्ति टीका का भावार्थ यहाँ दिया जा रहा है –

".... तत्र मोक्षकारणं चिन्त्यते। मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा मुक्तिकारणं न भवति। मोक्षावस्था शुद्धफलभूता सा चाग्रे तिष्ठति।

एताभ्यां द्वाभ्यां भिन्ना यान्तरात्मावस्था, सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा। यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरणं नास्ति,

तथाऽत्रापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येकदेशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम्।

यावतांशेन निरावरणा रागादिरहितत्वेन शुद्धा च, तावतांशेन मोक्षकारणं भवति। तत्र शुद्धपारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्यं ध्येयं भवति। तच्च तस्मादन्तरात्मध्यानावस्थाविशेषात्कथंचिद् भिन्नम्। यदैकान्तेनाऽभिन्नं भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यानं प्राप्नोति, अथवाऽस्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्याऽपि विनाशः प्राप्नोति एवं बहिरात्माऽन्तरात्म-परमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्याः।

अर्थात् वहाँ मोक्ष के कारण का विचार करते हैं – (प्रथम) मिथ्यात्व रागादिरूप बहिरात्म-दशा अशुद्धदशा है, वह मोक्ष की कारण नहीं है तथा (अन्तिम) मोक्षदशा शुद्धफलभूत है, वह आगे प्रगट होती है।

इन दोनों से भिन्न जो अन्तरात्मदशा है, वह मिथ्यात्व-रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध है। जैसे, सूक्ष्म निगोदिया जीव के ज्ञान में शेष आवरण होने पर भी क्षयोपशम-ज्ञानावरण ('पर्यायज्ञान' नामक क्षयोपशम को आवरण करने वाला ज्ञानावरण) नहीं है, वैसे यहाँ भी केवलज्ञानावरण होने पर भी एकदेश क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा आवरण नहीं है।

जितने अंशों में आवरणरहित और रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध है, उतने अंशों में मोक्ष का कारण है। वहाँ शुद्धपारिणामिकभाव रूप परमात्मद्रव्य ध्येय है और वह उस अन्तरात्मारूप ध्यानदशा-विशेष से कथंचित् भिन्न है। यदि वह एकान्त से उससे अभिन्न हो तो मोक्ष में भी ध्यान प्राप्त होता है, अथवा इस ध्यान-पर्याय का विनाश होने पर, उस पारिणामिकभाव का भी विनाश प्राप्त होता है।"

समीक्षा – अभी-अभी सम्यग्दर्शन के विषय में एक नया चिन्तन, जो कि आगमार्थ के विपर्यास से लगा हुआ लगता है, सुनने-पढ़ने को मिला है –

पंचास्तिकाय, गाथा 131 की समयव्याख्या टीका में पुण्य-पाप पदार्थों का वर्णन है, जिसमें मोह (मिथ्यात्व) को अशुभपरिणाम कहा गया है और प्रशस्त राग को शुभ तथा मोह, द्वेष एवं अप्रशस्त राग को अशुभपरिणाम कहा गया है; इस पर से कुछ मनीषी तर्क देकर यह सिद्ध कर रहे हैं कि **'इस (उक्त) विवेचन**

में मिथ्यात्व को अशुभपरिणाम कहा गया है, जिससे यह स्वतःसिद्ध है कि सम्यक्त्व, शुभपरिणाम अर्थात् शुभोपयोग के रूप में विवक्षित है।'

और इसे सही ठहराने के लिए समयसार गाथा 12 तात्पर्यवृत्ति टीका से कहा जा रहा है कि चौथे से सातवें गुणस्थानों में होनेवाले सम्यग्दर्शन मात्र को शुभोपयोग कहा है ...??? – इस प्रकार इन गुणस्थानों में होने वाला सम्यग्दर्शन चाहे औपशमिक हो, क्षायोपशमिक हो, या क्षायिक हो, शुभोपयोग ही है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन भी यहाँ सराग ही होता है।' ....

गजब हो गया भैया! क्या कहूँ, क्या लिखूँ? कुछ समझ नहीं आता।

'सम्यक्त्व-मार्गणा' के कथन में आ. वीरसेनस्वामी ने **धवला, पु. 1, पृष्ठ 397/398** पर **गाथा 212-216** में तथा **सूत्र 145** में ऐसा लिखा है –

'जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को 'सम्यक्त्व' कहते हैं।।212।।

दर्शन-मोहनीय-कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह 'क्षायिक सम्यक्त्व' है, जो नित्य है और कर्मों के क्षपण का कारण है।।213।।

श्रद्धान को भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करनेवाले आकारों से या बीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से, अथवा किं बहुना तीन लोक से भी वह 'क्षायिक सम्यग्दर्शन' चलायमान नहीं होता है।।214।।

सम्यक्त्व-मोहनीय-प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़रूप श्रद्धान होता है, उसको 'वेदक सम्यग्दर्शन' कहते हैं – ऐसा हे शिष्य तू समझ।।215।।

दर्शन-मोहनीय के उपशम से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह 'उपशम सम्यग्दर्शन' है।।216।।

(17) धवला पु. 1 (145/398)

सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा 'क्षायिक सम्यग्दृष्टि' जीव, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगी केवली गुणस्थान तक होते हैं।।145।।

शंका – सम्यक्त्व में रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है?

समाधान – तीनों ही सम्यग्दर्शनों में जो साधारण धर्म है, वह सामान्य शब्द से यहाँ पर विवक्षित है।

शंका – क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनों के परस्पर भिन्न-भिन्न होने पर सदृश्यता क्या वस्तु हो सकती है?

समाधान – नहीं, क्योंकि उन तीनों सम्यग्दर्शनों में यथार्थ श्रद्धान के प्रति समानता पायी जाती है।

शंका – क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषण से युक्त यथार्थ श्रद्धानों में समानता कैसे हो सकती है?

समाधान – विशेषणों में भेद भले ही रहा आवे, परन्तु इससे यथार्थ श्रद्धान रूप विशेष्य में भेद नहीं पड़ता है।

(18) धवला, पु. 1, सूत्र 220 (पृ. 401)

तिण्णि जणा ण एक्केक्कं, दोद्दो णेच्छंति ते तिवग्गा य।
एक्को तिण्णि ण इच्छइ, सत्त वि पावंति मिच्छत्तं ।।220।।

अर्थ – ऐसे तीन प्रकार के जन, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों में से किसी एक-एक को (मोक्षमार्गरूप) स्वीकार नहीं करते, दूसरे ऐसे तीन प्रकार के जन, जो इन तीनों में से दो-दो को (मोक्षमार्गरूप) स्वीकार नहीं करते, तथा कोई एक प्रकार का ऐसा भी जीव हो, जो तीनों को (मोक्षमार्गरूप) स्वीकार नहीं करता – ये सातों प्रकार के जीव, मिथ्यात्वी हैं।

समीक्षा - जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ तीनों ही एक साथ होते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र अंशतः होता ही है; अत: सम्यग्दर्शन को कुतर्कों से भी शुभभाव या शुभोपयोग सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

जो क्षायिक सम्यग्दर्शन, सादि-अनन्त काल तक टिकनवाला है और ज्ञान व चारित्र को सम्यक्ता प्रदान कर, उनको भी टिकाये रखनेवाला है एवं उन सब नौ क्षायिक-लब्धियों में प्रथम क्षायिक-लब्धिरूप है; उसे चतुर्थ से षष्ठम, इन तीन गुणस्थानों में चारित्र गुण की सरागता (सदोषता) रूप अवस्था का आरोप कर, सराग सम्यग्दर्शन कहना, अलग बात है (उपचार मात्र कथन है) और उसे सराग (सदोष) रूप ही मान लेना, उसके स्वरूप को विकृत कर देने की कुचेष्टा मात्र है,

मिथ्या अभिनिवेश है, आगम का अवर्णवाद है। यह सभी आगमविद् जानते हैं कि **सम्यक्त्वरहित चारित्र ही नहीं होता है।**

सर्वार्थसिद्धि (6/21) में 'सम्यक्त्वं च' - इस सूत्र की टीका में स्पष्टरूप से कहा है कि '**सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्तदुभयमप्यत्रान्तर्भवति।**' अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव में सराग संयम और संयमासंयम नहीं होते, इसलिए उन दोनों का यहीं अन्तर्भाव होता है अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायु के आस्रव के कारण हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्व के होने पर ही होते हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शन को देवायु के आस्रव का कारण कहना, जैसे उपचार (व्यवहार) है, वैसे ही सरागता का उस पर आरोप कर, उसे सराग सम्यग्दर्शन कहना भी उपचार(व्यवहार) मात्र कथन है और वीतरागता का आरोप कर, उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहना भी उपचार(व्यवहार) मात्र कथन है।

सम्यग्दर्शन, शुभभावरूप पुण्य तत्त्व नहीं है, जो आस्रव-बन्ध का साधक हो, वह तो शुद्धभावरूप संवर-निर्जरा तत्त्व है, जो मोक्ष का साधक है। यह तो तत्त्वार्थश्रद्धान की ही भूल है, जो संवर-निर्जरा को पुण्य(शुभ)भावरूप मानता-मनवाता है। जिसका तत्त्वार्थश्रद्धान ही सही नहीं है, उसको परमोपेक्षा संयम तो दूर, सराग संयम भी सच्चा नहीं हो सकता है।

अतः श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने **चारित्रपाहुड़, गाथा 10** में कहा है -

सम्मत्तचरणभट्ठा, संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढ़ा, तह वि ण पावंति णिव्वाणं ।।10।।

अर्थ - जो पुरुष, सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट हैं और संयम का आचरण करते हैं, वे अज्ञान से मूढ़दृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं अर्थात् सम्यक्त्वा-चरण चारित्र के बिना संयमाचरण चारित्र, निर्वाण-प्राप्ति का कारण नहीं है।

उक्त सर्व कथन का तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वरूप भाव अर्थात् मिथ्यात्व कर्म के अभाव से जीवों का जो निजभाव प्रगट होता है, वह भाव तो सूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगोचर नहीं है, तथापि उसके जो बाह्य चिह्न सम्यग्दृष्टि को प्रगट होते हैं, उनसे सम्यक्त्व हुआ जाना जाता है। मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्धज्ञान -चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है।

यद्यपि यह अनुभूति, एक प्रकार से ज्ञान का (स्वानुभूत्यावरण का) क्षयोपशम-

विशेष है, तथापि वह सम्यक्त्व होने पर ही होती है, इसीलिए इसे बाह्य चिह्न कहा है।

'जो यह शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा है, सो मैं ही हूँ और जो राग-द्वेषादि विकारभाव हैं, औदयिकभाव हैं, वे मोहनीय आदि कर्मोदयजन्य हैं, कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है।'

इस प्रकार स्व-पर मूलक भेदविज्ञान से ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं, वही आत्मा की अनुभूति है, जो शुद्धनयात्मक है।

इस स्वानुभूति के साथ नियम से ऐसा श्रद्धान उदित होता है कि द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म (रागादिभाव) से रहित अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख रूप अनन्त-चतुष्टय ही मेरा मूल स्वरूप है, अन्य सब भाव, संयोगजनित हैं –ऐसी आत्मा की अनुभूति, जो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है, स्वानुभव-प्रत्यक्ष-प्रमाणरूप भावश्रुत-ज्ञान से जानी जाती है।

यहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा पर के अन्तरंग में होने से पर के वचन व काय की क्रिया से होती है। यह व्यवहार है, परमार्थ तो सर्वज्ञ जानते हैं। अपने ज्ञान के द्वारा स्वयं के एवं अन्य के श्रद्धान का निर्णय करना, दोनों व्यवहार हैं। इस आत्मानुभूति में स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ, मिथ्यात्व (दर्शनमोह) एवं अनन्तानुबन्धी कषाय (चारित्रमोह) का अनुदय (उपशम, क्षय या क्षयोपशम) नियम से होता ही है। इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धानरूप निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस अनुभूति की उपलब्धि में सर्वज्ञकथित स्यात्-पद-मुद्रांकित शब्दब्रह्मरूप परमागम का सेवन, सुयुक्तियों का अवलम्बन एवं स्वानुभवी ज्ञानियों का उपदेश ही निमित्त होता है, अन्य कुछ नहीं। पश्चात् स्वयमेव स्वानुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना होता है।

सम्यग्दृष्टि जीवों में निश्चय सम्यक्त्व होने के प्रमाणस्वरूप अन्य बाह्य व्यवहार चिह्न भी प्रगट होते हैं। जैसे –

1. **प्रशम** अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय के उदय का अभाव होना।

2. **संवेग** अर्थात् धर्म और धर्म के फल में परम उत्साह, परमेष्ठियों में प्रीति, साधर्मी अनुराग होना।

3. **अनुकम्पा** अर्थात् सर्व प्राणियों के प्रति उपकार की बुद्धि, मैत्री भाव और दयार्द्र-चित्त होना।

4. **आस्तिक्य** अर्थात् सर्वज्ञकथित जीवादि पदार्थों में श्रद्धान होना, क्योंकि **नाऽन्यथावादिनो जिनः।**

संवेग, निर्वेद, आत्म-निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा – ये आठ गुण भी प्रगट होते हैं तथा निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना – ये आठ अंग या लक्षण भी प्रगट हो जाते हैं।

इन सबके अलावा सम्यक्त्वाचरण चारित्र के प्रतिफल स्वरूप सम्यग्दृष्टि को 8 मद + 8 शंकादि दोष + 6 अनायतन + 3 मूढ़ताएँ = कुल 25 (पच्चीस) मल दोष नहीं होते हैं।

दर्शनपाहुड़, गाथा 2 (दंसण मूलो धम्मो ....) की टीका में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने हम सभी सच्चे जिनधर्मानुयायियों को एक नेक (उत्तम) सलाह दी है, उस पर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

"अनेक लोग कहते हैं कि 'सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता; इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते? परन्तु इस प्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है, सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि-श्रावकों की प्रवृत्ति, मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी और सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा?

इसलिए परीक्षा होने के पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि 'मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ।' मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं और उसी के समान स्वयं भी होगा, इसलिए सर्वथा एकान्त पक्ष ग्रहण नहीं करना चाहिए।"

शुभं भूयात्! भद्रं भूयात्!!

जयवन्त वर्तो! स्याद्वाद-मुद्रित जैनेन्द्र-शब्दब्रह्म!!

शिवाकांक्षी

ब्र. हेमचन्द जैन, 'हेम' (भोपाल)

*****

तृतीय चर्चा

सम्यक् क्षायोपशमिक भाव चर्चा

मंगलाचरण

अरिहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणं महोवयं सिरसा।।

अर्थात् अरहन्त भगवान द्वारा कहा गया और गणधरदेव द्वारा भले प्रकार से गूँथा गया जो जिनागम है, वही सूत्र है – ऐसे सूत्रों के आधार पर श्रमणजन, परमार्थ को साधते हैं।

अब, यहाँ आगम के आलोक में क्षायोपशमभाव की व्याख्या की जाती है।

क्या है क्षायोपशमिक भाव?

जिनागम में जीवों के असाधारण पाँच भाव कहे हैं –

'औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च।' (तत्त्वार्थसूत्र, 2/1)

अर्थात् औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक – ये पाँच भाव जीव के स्वतत्त्व हैं।

इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में इन पाँच भावों की व्याख्या करते हुए लिखा है –

जैसे, कतकादि द्रव्य (फिटकरी) के सम्बन्ध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में कर्म की निजशक्ति का कारणवश प्रगट न होना, **उपशम** है।

जैसे, उसी जल को दूसरे साफ बर्तन में बदल देने पर कीचड़ का अत्यन्त अभाव हो जाता है, वैसे ही कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना, **क्षय** है।

जैसे, उसी जल में कतकादि द्रव्य के सम्बन्ध से कुछ कीचड़ का अभाव हो जाता है और कुछ बना रहता है, उसी प्रकार उभयरूप भाव, **मिश्र** है।

द्रव्यादि-निमित्त के वश कर्मों के फल का प्राप्त होना, **उदय** है।

तथा जिसके होने में द्रव्य का स्वरूप-लाभ मात्र कारण है, वह **परिणाम** है।

जिस भाव का प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है, वह **औपशमिक भाव** है।

इसी प्रकार जिस भाव का प्रयोजन क्षय है, वह **क्षायिक भाव** है।

जिस भाव का प्रयोजन क्षयोपशम है, वह **क्षायोपशमिक भाव** है।

जिस भाव का प्रयोजन उदय है, वह **औदयिक भाव** है।

जिस भाव का प्रयोजन परिणाम है, वह **पारिणामिक भाव** है।

इस प्रकार सभी की व्युत्पत्ति होती है। ये पाँचों भाव जीव के असाधारण भाव हैं; इसलिए ये जीव के स्वतत्त्व कहलाते हैं।

विशेष रूप से क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद

तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अधिकार में कहा है –

'ज्ञानाऽज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रि-त्रि-पञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च।' (तत्त्वार्थसूत्र, 2/5)

अर्थात् चार सम्यग्ज्ञान, तीन अज्ञान (मिथ्याज्ञान), तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम; ये **अठारह प्रकार के क्षायोपशमिक भाव** हैं।

सर्वार्थसिद्धि टीका में क्षायोपशमिक भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है–

सर्वघाति-स्पर्द्धकानामुदय-क्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघाति-स्पर्द्धकाना-मुदये क्षायोपशमिको भावो भवति।

तत्र ज्ञानादीनां वृत्तिः स्वावरणान्तराय-क्षयोपशमाद् व्याख्यातव्या।

सम्यक्त्वग्रहणेन वेदकसम्यक्त्वं गृह्यते। अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघाति-स्पर्द्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्।

अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथा-सम्भवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्।

अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात्सदुपशमाच्च प्रत्याख्यान -कषायोदये संज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथा-सम्भवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिकः संयमासंयम इत्याख्यायते। (सर्वार्थसिद्धि 2/5)

अर्थात् वर्तमानकाल में सर्वघाति-स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और आगामीकाल की अपेक्षा उन्हीं का सद्वस्थारूप उपशम होने से तथा देशघाति-स्पर्द्धकों का उदय रहते हुए **क्षायोपशमिक भाव** होता है।

उक्त भावों में से ज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव, अपने-अपने आवरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं –ऐसा व्याख्यान यहाँ कर लेना चाहिए।

सूत्र में आये हुए 'सम्यक्त्व' पद से वेदक सम्यक्त्व लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि चार अनन्तानुबन्धी-कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व –इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम से देशघाति-स्पर्द्धक वाली सम्यक्-प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है, वह **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** है।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण –इन बारह कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा चार संज्वलन-कषायों में से किसी एक देशघाति-प्रकृति के देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय होने पर और नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो त्यागरूप परिणाम होता है, वह **क्षायोपशमिक चारित्र** है।

अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण – इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय और संज्वलन-कषाय के देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय होने पर तथा नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो विरताविरत परिणामरूप परिणाम होता है, वह **क्षायोपशमिक संयमासंयम** कहलाता है।

इसी सूत्र की **तत्त्वार्थराजवार्तिक** टीकानुसार व्याख्या निम्न प्रकार है –

तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति।

वीर्यान्तराय-मति-श्रुत-ज्ञानावरणानां सर्वघाति-स्पर्द्धकानामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च देशघाति-स्पर्द्धकानामुदये मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च भवति।

देशघाति-स्पर्द्धकानां रसस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगाद् गुणघातस्याऽतिशयाऽनतिशयवत्त्वात् तज्ज्ञानभेदो भवति।

एवमवधि-मनःपर्यय-ज्ञानयोरपि स्वाऽऽवरण-क्षयोपशम-भेदात् क्षायोपशमिकत्वं वेदितव्यम्।

अर्थात् वहाँ चार प्रकार के ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) क्षायोपशमिक ज्ञान हैं - आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान।

वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरण के सर्वघाति-स्पर्द्धकों का उदय-क्षय और आगामी का सदवस्थारूप उपशम होने पर तथा देशघाति-स्पर्द्धकों का उदय होने पर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं।

देशघाति-स्पर्द्धकों के अनुभाग-तारतम्य से क्षयोपशम में भेद होता है।

इसी तरह अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी क्षायोपशमिक होते हैं।

अज्ञानं त्रिविधं–मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गं चेति। तेषां क्षायोपशमिकत्वं पूर्ववत्। ज्ञानाऽज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्वकर्मोदयाऽनुदयाऽऽपेक्षः।

अर्थात् मिथ्यात्व-कर्म के उदय से मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान - ये तीन अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान (क्षायोपशमिक भाव) होते हैं।

दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं – चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति। एतत्त्रितयमपि पूर्ववत् स्वावरणक्षयोपशमाऽऽपेक्षं द्रष्टव्यम्।

अर्थात् तीन प्रकार का दर्शन क्षायोपशमिक होता है – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, और अवधिदर्शन – ये तीन दर्शन, अपने-अपने आवरणों के क्षयोपशम से होते हैं।

लब्धयः पञ्च क्षायोपशमिक्यः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति। दानान्तरायादिसर्वघातिस्पर्द्धकक्षयोपशमे देशघातिस्पर्द्धकोदयसद्भावे ताः पञ्चलब्धयो भवन्ति।

अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य – ये पाँच लब्धियाँ, पूर्ववत् दानान्तराय, लाभान्तराय आदि के क्षयोपशम से होती हैं।

समीक्षा – एक ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि अधिकतर देशघाति और सर्वघाति-कर्म ऐसे होते हैं, जिनमें देशघाति और सर्वघाति – दोनों प्रकार के स्पर्द्धक पाये जाते हैं। केवल नौ नोकषायों और सम्यक्त्व-मोहनीय – ये दस प्रकृतियाँ, सर्वघाति-स्पर्द्धकों से रहित होती हैं; इनमें मात्र देशघाति ही स्पर्द्धक पाये जाते हैं, अतः नौ नोकषायों को छोड़कर, शेष सभी देशघाति कर्मों का क्षयोपशम सम्भव है; क्योंकि क्षयोपशम के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार क्षयोपशम में सर्वघाति-स्पर्द्धकों का अनुदय एवं देशघाति-स्पर्द्धकों का उदय, इन दोनों प्रकार के कर्मों की भूमिका होती है, उसमें भी संयमासंयम भाव की प्राप्ति में प्रत्याख्यानावरण कर्म को अपेक्षा भेद से देशघाति मान लिया जाता है और सम्यक्त्व-प्रकृति, मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व से मिल कर, क्षयोपशमिक भाव को जन्म देती है; इसलिए क्षायोपशमिक भाव के केवल अठारह भेद ही घटित होते हैं।

इन सब भावों में देशघाति-स्पर्द्धकों का उदय होता है, इसलिए इन्हें वेदक भी कहते हैं, अत: जितने भी क्षायोपशमिक भाव होते हैं, देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय से वेदक भी कहलाते हैं – यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इसमें सर्वघाति-स्पर्द्धकों या सर्वघाति-प्रकृतियों का वर्तमान समय में अनुदय रहता है, इसलिए उनके उदय-काल के एक समय पहले उदयरूप देशघाति-स्पर्द्धकों या प्रकृतियों का क्षयोपशम भाव में स्तिबुक-संक्रमण हो जाता है, इसे ही प्रकृत में उदयाभावी क्षय कहते हैं। यहाँ उदय का अभाव ही क्षयरूप से विवक्षित है और आगामी काल में उदय में आने योग्य इन्हीं सर्वघाति-प्रकृतियों व सर्वघाति-स्पर्द्धकों का सत्ता में पड़े रहनेरूप या सदवस्थारूप उपशम रहता है, उनकी उदीरणा नहीं होती, मात्र स्तिबुक-संक्रमण के द्वारा इनके उदयकाल से एक समय पहले सजातीय देशघाति-प्रकृति या देशघाति-स्पर्द्धकरूप से संक्रमण हो होकर निर्जरा होती रहती है।

सर्वघाति अंश/अनुभाग का उदय और उदीरणा न होने से जीव का स्वभाव-भाव, निर्मल-पर्यायांशरूप से व्यक्त होकर वर्तता रहता है और देशघाति अंश/अनुभाग का उदय रहने से उसमें सदोषतारूप मलिन-पर्यायांश भी व्यक्तरूप से वर्तता रहता है –यही निर्दोषता के साथ सदोषता का मिला-जुला एक परिणाम, मिश्रभावरूप 'क्षायोपशमिक भाव' कहलाता है; इसमें निर्दोषतारूप पर्यायांश, संवर-निर्जरा का

हेतु या कारण होता है और सदोषतारूप पर्यायांश, आस्रव-बन्ध का हेतु या कारण होता है।

देशघाति-स्पर्द्धक, जब जघन्य भाव से उदय में आकर खिरते हैं, तब वे स्व-प्रकृति का बन्ध करने में समर्थ नहीं होते, परन्तु उतने अंश में जीव की पर्याय में सदोषता रूप परिणमन अवश्य होता है।

जैसे, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव के समल तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण सम्यक्त्व-मोहनीय-प्रकृति का उदय ही होता है, तथापि उससे नवीन दर्शनमोह आदि प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता।

इसी तरह सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के जब संज्वलन लोभ, जघन्यभावरूप से उदय में आकर खिरता है, तब चारित्रगुण की पूर्ण वीतराग रूप निर्मल पर्याय का उद्भव नहीं होता और अल्प सदोषता होने पर भी उससे चारित्रमोह (संज्वलन) की नवीन प्रकृति का आस्रव-बन्ध नहीं होता है।

यद्यपि उस समय भी अन्य ज्ञानावरणादि 16 प्रकृतियों का बन्ध होता है, वह देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय से होने वाले संज्वलन-कषायांश से ही होता है और सर्वघाति-स्पर्द्धकों के अनुदय से प्रगट होने वाले वीतरागांश से संवर -निर्जरा ही होती है – ऐसे एक मिश्रभावरूप क्षायोपशमिक भाव (क्षायोपशमिक चारित्र) साधक जीवों के निरन्तर यथायोग्य संवर-निर्जरा एवं आस्रव-बन्ध, दोनों होते ही रहतें हैं।

इस विषय का और अधिक स्पष्टीकरण **आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी** ने **मोक्षमार्गप्रकाशक** में संवरतत्त्व की भूल बताते हुए, पृष्ठ 227/228 पर किया है, जो निम्न प्रकार है -

"संवरतत्त्व में अहिंसादिरूप शुभास्रवभावों को संवर जानता है; परन्तु एक ही कारण से पुण्यबन्ध भी माने और संवर भी माने; वह नहीं हो सकता।

प्रश्न – मुनियों के एक काल में एक भाव होता है, वहाँ उनके बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है?

समाधान – वह भाव, मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है, जो अंश वीतराग हुए, उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे, उनसे बन्ध है;

सो एक भाव से तो दो कार्य बनते हैं, परन्तु एक प्रशस्त राग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना, सो भ्रम है।

मिश्रभाव में भी यह सरागता है, यह वीतरागता है – ऐसी पहिचान, सम्यग्दृष्टि के ही होती है, इसलिए अवशेष सरागता को हेयरूप श्रद्धा करता है, मिथ्यादृष्टि के ऐसी पहिचान नहीं है, इसलिए सरागभाव में संवर के भ्रम से प्रशस्त रागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धा करता है।

तथा सिद्धान्त में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र; इनके द्वारा संवर होता है – ऐसा कहा है। **(स गुप्ति-समिति-धर्माऽनुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः** – तत्त्वार्थसूत्र, 9/2) सो इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता।''

इसी तथाकथित व्यवहाराभासी संयमी जीव की चारित्र (धर्म) के बारे में कैसी अभिप्राय की भूल पड़ी रहती है?

इस सम्बन्ध में भी उन्हीं सातिशय प्रज्ञा के धनी आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने **मोक्षमार्गप्रकाशक** में पृष्ठ 229-230 पर निम्न प्रकार खुलासा किया है –

''**चारित्र** – हिंसादि सावद्य-योग के त्याग को चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादि रूप शुभयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है; परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव-पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हों? **तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र, मोक्ष का साधक है, इसलिए महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना सम्भव नहीं होता; सकलकषाय रहित जो उदासीनभाव, उसी का नाम चारित्र है।**

जो चारित्रमोह के देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय से महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह चारित्र का मल है (विकार है), उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते, सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं; परन्तु जैसे कोई पुरुष, कन्द-मूलादि बहुत दोषवाली हरित-काय का तो त्याग करता है और कितनी ही हरित-काय का भक्षण करता है, परन्तु उसे धर्म नहीं मानता। उसी प्रकार मुनि, हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करते हैं और कितने ही मन्दकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो चारित्र के 13 भेदों में महाव्रतादि कैसे कहे हैं?

समाधान – वह व्यवहार चारित्र कहा है और व्यवहार नाम उपचार का है, सो महाव्रतादि होने पर ही वीतराग चारित्र होता है – ऐसा सम्बन्ध जानकर, महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है। निश्चय से निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है।''

समीक्षा – सभी आगमवेत्ता यह बात भलीभाँति जानते हैं कि इस जीव को **'अनादि-सम्बन्धे च'** (तत्त्वार्थसूत्र, 2/41) –इस आगम-सूत्र के अनुसार अनादि ही से तैजस व कार्मण शरीर का सम्बन्ध है। कार्मण शरीर, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-नाम-गोत्र-अन्तराय – इन आठ कर्मों के समूहरूप अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणुओं का पिण्ड है।

इनमें ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-अन्तराय – ये चार कर्म, आत्म-गुण-घातक अर्थात् आत्मा का स्वभाव व्यक्त न होने देने में निमित्त होने से घातिकर्म कहलाते हैं। शेष चार कर्म – वेदनीय-आयु-नाम-गोत्र; ये आत्म-गुण-घातक न होने से बाह्य संयोग (गति, जाति, शरीर, बाह्य सुख-दुःख के कारणरूप परद्रव्यों का संयोग, प्राप्त शरीर का आयु की स्थिति-पर्यन्त टिकना) आदि में निमित्त होने से अघातिकर्म कहे जाते हैं।

घातिकर्मों में भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय – इन तीन कर्मों का अनादि ही से क्षयोपशम पाया जाता है।

इन कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से जिसको जितने ज्ञान, दर्शन, वीर्य प्रगट होते हैं, वह उस जीव के स्वभावभाव का अंश ही है, कर्मजनित औपाधिक भाव नहीं है।

इस स्वभाव के अंश का अनादि से लेकर कभी अभाव नहीं होता। इसी के द्वारा जीव के जीवत्वपने का निश्चय किया जाता है।

इस जानने-देखने रूप स्वभाव से नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता, क्योंकि यदि निज स्वभाव ही बन्ध का कारण हो तो फिर बन्ध से कभी भी छूटना नहीं हो सकता।

इन कर्मों के उदय से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य अभावरूप हैं, उनसे भी बन्ध नहीं होता है; क्योंकि जिसका स्वयं सद्भाव न हो (अभाव हो), वह अन्य को बन्धादि का कारण नहीं हो सकता; इसलिए ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय

के निमित्त से उत्पन्न औदयिक भाव *भी नवीन बन्ध के कारण नहीं हैं। ध्यान* रहे –इन तीन कर्मों का कभी भी उपशम नहीं होता; मात्र उदय, क्षयोपशम एवं क्षय ही होता है। 12 वें गुणस्थान पर्यन्त क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट रहते हैं।

पश्चात् 13 वें गुणस्थान से लेकर, आगे अशरीरी सिद्धावस्था में भी अनन्त काल तक क्षायिक भाव वर्तता रहता है अर्थात् अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख, *अनन्त काल तक एक रूप प्रगट बने रहते हैं।*

तथा मोहनीय कर्म के उदय से जो जीव के स्वभाव नहीं हैं – ऐसे मिथ्याश्रद्धान एवं क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों की व्यक्तता, अनादि से ही पायी जाती है। ये ही इस जीव के औपाधिक या औदयिक चिद्‌विकाररूप विभावभाव हैं; इनसे ही नवीन कर्मबन्ध होता है, **इस प्रकार मोह के उदय से उत्पन्न भाव ही बन्ध के कारण हैं।**

दर्शनमोह के उदय से अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव एवं चारित्रमोह के उदय से क्रोधादि कषायभाव होता है। स्वरूप की अश्रद्धा या अप्रतीति, स्व-पर के एकत्व का अध्यास किंवा **शरीर एवं कषायों में एकत्वबुद्धि ही मोह या मिथ्यात्व है** तथा स्वरूप में साम्यभाव (वीतरागता) रूप स्थिरता न होना या क्षुब्ध होना ही चारित्रमोह है।

यह जीव, अनादि से मिथ्यादृष्टि है अर्थात् इस जीव की दृष्टि, अनादि से ही मिथ्या है। यद्यपि इसका सच्चिदानन्द द्रव्यस्वभाव या शक्तिरूप सामर्थ्य तो सदैव विद्यमान है, तथापि पर्यायदृष्टि होने से अपने को असमानजातीय-द्रव्यपर्याय जितना ही माने बैठा है तथा जिनेन्द्रदेव के अलावा, अन्यदेवादि के सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को ही मिथ्यात्व जानता है, परन्तु अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है, उसे नहीं पहिचानता।

उनमें से (1) कितने ही जैन बन्धु, कुलक्रम से (2) कितने ही परीक्षा रहित आज्ञानुसारी होकर (3) कितने ही आजीविकादि सांसारिक प्रयोजन साधनार्थ (4) कितने ही धर्मबुद्धि से धर्मधारक होते हैं; परन्तु निश्चय वीतरागभावरूप आत्मधर्म को नहीं जानते; इसलिए अभूतार्थरूप व्यवहारधर्म को साधते रहते हैं।

व्यवहार या सराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही निश्चय मोक्षमार्ग जानकर, उनका साधन करते रहते हैं।

उन जीवों की इस विशुद्ध परिणामरूप भली वासना के निमित्त से भले ही कदाचित् कर्म के स्थिति-अनुभाग घट भी जाएँ और तत्त्वविचार पूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त भी हो जाए, परन्तु तत्त्वविचार रहित जीव, परमार्थ स्वरूप निश्चय-मोक्षमार्ग रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पहिचाने बिना, अन्य किसी भी उपाय से सच्चे मुक्तिमार्ग को असंख्य कल्पकालों में भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

शंका – इसका क्या कारण है?

समाधान – इसका कारण यह है कि शुभाशुभ भावों के माध्यम से पुण्य-पाप का विशेष अन्तर तो अघाति कर्मों में होता है, जो कि आत्म-गुण के घातक नहीं हैं तथा शुभाशुभ भावों से घातिकर्मों का तो निरन्तर बन्ध होता ही रहता है, जबकि वे तो सर्व पापरूप ही हैं और वे ही आत्मगुणों के घातक हैं; इसलिए शुभाशुभ भाव दोनों ही अशुद्धभाव हैं और इन अशुद्ध (औदयिक) भावों से कर्म-बन्ध होता ही रहता है।

इन पुण्य-पापरूप कर्मों को या इनके बन्ध के कारण जो शुभाशुभ भाव हैं, उनको भला-बुरा जानना-मानना ही मिथ्याश्रद्धान है। इसकी साक्षी जिनागम में सर्वत्र है।

प्रवचनसार गाथा 77, समयसार गाथा 145 आदि अनेक जगहों पर पुण्य-पाप की एक कर्मरूप जाति ही सिद्ध की गयी है; अतः शुभोपयोग भी अशुभोपयोग की भाँति बन्ध-कारक होने से औदयिक ही है, क्षायोपशमिक नहीं।

वस्तुतः जो जीव, अपने स्वयं के चिन्तन से भ्रमवश शुभोपयोग को क्षायोपशमिक चारित्र सिद्ध करके मोक्ष का कारण मानकर उपादेय मानते हैं, उनकी ऐसी मान्यता आगम-विरुद्ध है, मिथ्यात्व-पोषक है, सत्य से परे है।

कृपया छहढाला की निम्न पंक्तियों पर ध्यान देवें –

जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम-अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर नहि सुख अवलोके।।

यद्यपि वे लोग, ऐसा कहते हुए भी इन पुण्य-पाप भावों से रहित वीतराग भावस्वरूप शुद्धोपयोग को नहीं पहिचानते, उन्हें इस विषय पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि शुभ-अशुभ, दोनों को अशुद्धता की अपेक्षा एवं बन्ध-कारण की अपेक्षा समान बतलाया है।

हाँ, इतना अवश्य है कि शुभ-अशुभ का परस्पर विचार करें तो शुभ भावों में कषायें मन्द होने से बन्ध, हीन होता है और अशुभ भावों में कषायें तीव्र होने से बन्ध, अधिक होता है; **इसलिए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, यथापदवी निचली दशा में जहाँ मुनिराजवत् शीघ्र-शीघ्र शुद्धोपयोग नहीं हो सकता, अशुभभावमय तीव्रकषायरूप अव्रतादि परिणामों से बचे रहने के लिए तथा संसार-स्थिति छेदने के लिए मन्दकषायरूप व्यवहार-व्रतादि परिणामरूप आचरण आचरते हैं; उस काल में वे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि, उस शुभोपयोग को औषधिवत् उपयोगी तो जानते हैं, लेकिन उपादेय नहीं मानते हैं, परन्तु शुभोपयोग को छोड़कर निःशंक पापरूप प्रवर्तन भी नहीं करते हैं।**

यदि कोई निर्विचारी पुरुष, व्यवहार व्रतादि सरागचारित्र को सर्वथा अनुपयोगी जान कर, छोड़ बैठे तो विषय-कषायरूप अशुभाचरणी होकर, नरकादि में चला जाएगा। वस्तुतः व्रत-शील-संयम का नाम व्यवहार नहीं है, इसको मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है; अतः उसको मोक्षमार्ग मानना छोड़ कर, ऐसा श्रद्धान करना चाहिए कि इन व्रतादि को बाह्य सहकारी निमित्त कारणरूप जान कर, उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, लेकिन यह परद्रव्याश्रित होने से व्यवहार मोक्षमार्ग ही कहा गया है। सच्चा तो स्वद्रव्याश्रित वीतरागभाव मात्र ही निश्चय मोक्षमार्ग होता है।

यद्यपि साधक अवस्था में निश्चय-व्यवहार, दोनों मोक्षमार्ग युगपत् प्रगट होते हैं, तथापि सराग/व्यवहार/द्रव्यसंयम बुद्धिपूर्वक ग्रहण किये बिना, वीतराग/निश्चय/भाव संयम कदापि प्रगट नहीं होता - ऐसा अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण व्यवहार को निश्चय का हेतु कहा है।

शिवाकांक्षी

दि. 09. 09. 2007 — **ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'** (देवलाली)

*****

चतुर्थ चर्चा

आगम के आलोक में

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन एवं क्षायोपशमिक चारित्र

(1) धवला, पु. 1/400

प्रश्न – क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन को 'वेदक-सम्यग्दर्शन', यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर – दर्शन-मोहनीयकर्म के उदय का वेदन करनेवाले जीव को **वेदक** कहते हैं; उसको जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे **वेदक-सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

प्रश्न – जिनके दर्शन-मोहनीयकर्म का उदय विद्यमान है, उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जाता है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि दर्शन-मोहनीय की देशघाति-प्रकृति (सम्यक्-प्रकृति) के उदय रहने पर भी जीव के स्वभावरूप श्रद्धान के एकदेश रहने में कोई विरोध नहीं आता है।

(2) धवला, 1/235

'सर्व-जीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्।'

अर्थात् जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है।

(3) लब्धिसार, 191/245

(अ) सकलचारित्र 3 प्रकार है – क्षायोपशमिक, औपशमिक व क्षायिक।

तहाँ पहला क्षायोपशमिक चारित्र, सातवें व छठवें गुणस्थान विषै पाइये है।

ताकौ जो जीव, उपशम-सम्यक्त्व सहित ग्रहण करे हैं, सो मिथ्यात्व तैं ग्रहण करे हैं। ताका तो सर्व विधान, प्रथमोपशम-सम्यक्त्ववत् (तीन करण करि सहित) जानना।

क्षयोपशम-सम्यक्त्व को ग्रहता (धारण करनेवाला) जीव, पहले अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त हो है। वेदक-सम्यक्त्व सहित क्षयोपशम-चारित्र को मिथ्यादृष्टि वा अविरत व देशसंयत जीव, देशव्रत-ग्रहणवत् अधःप्रवृत्त वा अपूर्वकरण, इन दोय करण करि ग्रहण करै है। तहँ करण विषै गुणश्रेणी नाहीं है। सकल-संयम का ग्रहण समय तैं लगाय गुण-श्रेणी हो है।

(इ) इहाँ तै ऊपर अल्प-बहुत्व पर्यन्त जैसे पूर्वे देशविरत विषै व्याख्यान किया है, तैसे सर्व व्याख्यान यहाँ जानना। विशेषता इतनी, वहाँ जहाँ देश-विरत कह्या है, इहाँ तहाँ सकलविरत जानना।

(4) धवला, 1/169-179 के आधार पर

तृतीय मिश्र गुणस्थान (सम्यग्मिथ्यात्व) को क्षायोपशमिक भाव, सम्यग्मिथ्यात्व -प्रकृति के उदय की मुख्यता से ही कहा है, उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टि को वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्वादि के क्षायोपशमिक की मुख्यता से न मानकर सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की प्रधानता से ही कहा समझना चाहिए, क्योंकि चल-मल-अगाढ़रूप शिथिलता का कारण सम्यक्त्व-प्रकृति का उदय ही है।

इसी प्रकार पाँचवें संयतासंयत (देशविरत) गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदयाभावी क्षय एवं उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयमासंयम रूप अप्रत्याख्यान चारित्र ही प्रगट होता है, इसमें संयम भाव की उत्पत्ति का कारण, त्रस-हिंसा से विरति भाव है और असंयम भाव की उत्पत्ति का कारण, स्थावर-हिंसा से अविरतिभाव है।

इस गुणस्थान में भी अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अनुदय, त्रस-हिंसा से विरतिरूप संयम अंश का कारण एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय, स्थावर-हिंसा से विरति न होने रूप असंयम-अंश का नियामक कारण है, इसमें क्षयोपशम का लक्षण घटित होने से संयमासंयम (देशविरति) को भी क्षायोपशमिक भाव कहा है।

इसी क्रम से छठवें-सातवें प्रमत्तसंयत-अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाये जाने वाले क्षायोपशमिक-चारित्र को भी घटित कर लेना चाहिए।

जो जीव, प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं, उन्हें प्रमत्त-संयत कहते हैं; इन्हीं जीवों (मुनि-भगवन्तों) का जब संयम, प्रमाद रहित होता है, तब उन्हें ही अप्रमत्त-संयत कहते हैं अर्थात् जिन जीवों के संयत होते हुए पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नहीं पाया जाता, उन्हें अप्रमत्त-संयत समझना चाहिए।

(इस प्रकार) संयम की अपेक्षा ये दोनों गुणस्थान क्षायोपशमिक हैं, क्योंकि प्रत्याख्यानावरणी-कषाय के अनुदय रूप क्षयोपशम तथा संज्वलन- कषाय के उदय से प्रत्याख्यान-चारित्र (क्षायोपशमिक-संयम) प्रगट होता है।

(5) धवला, 1/178-179

"**शंका** – संज्वलन-कषाय के उदय से संयम होता है, इसलिए उसे औदयिक नाम से क्यों नहीं कहा जाता?

समाधान – नहीं, क्योंकि संज्वलन-कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका – तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है?

समाधान – प्रत्याख्यानावरण-कषाय के सर्वघाति-स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से (और उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से) उत्पन्न हुए **संयम में मल के उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है। संयम के कारणभूत सम्यग्दर्शन की अपेक्षा तो ये गुणस्थान (छठवाँ-सातवाँ) क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव निमित्तक हैं।**

शंका – यहाँ पर सम्यग्दर्शन की जो अनुवृत्ति बतलायी है, उससे क्या यह तात्पर्य निकलता है कि सम्यग्दर्शन के बिना भी संयम की उपलब्धि होती है?

समाधान – ऐसा नहीं है, क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थों में जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तथा जिसका चित्त तीन मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका – यहाँ पर द्रव्य-संयम (द्रव्य-लिंग) का ग्रहण नहीं किया है – यह कैसे जाना जाए?

समाधान – नहीं, क्योंकि भले प्रकार से जान कर और श्रद्धान कर, जो यम

सहित है, उसे **संयत** कहते हैं। 'संयत' शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्य-संयम का ग्रहण नहीं किया है। कहा भी है -

वत्तावत्त पमाए, जो वसइ पमत्त संजदो होई।
सयलगुणशीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो ।।113।।

विकहा तहा कसाया, इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु-चदु-पणमेगेगं, होंति पमादा य पण्णरसा ।।114।।

अर्थात् जो व्यक्त (स्व-संवेद्य) और अव्यक्त (प्रत्यक्ष-ज्ञानियों द्वारा जानने योग्य) प्रमाद में वास करता है, जो सम्यक्त्व-ज्ञानादि सम्पूर्ण गुणों से और व्रतों के रक्षण करने में समर्थ - ऐसे शीलों से युक्त है, जो (देशसंयत की अपेक्षा) **'महाव्रती'** हैं और जिनका आचरण सारंग के समान शवलित अर्थात् अनेक प्रकार का है। अथवा चित्त में प्रमाद को उत्पन्न करनेवाला जिसका आचरण है, उसे **'प्रमत्तसंयत'** कहते हैं।

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा - ये चार विकथाएँ, क्रोध-मान-माया-लोभ - ये चार कषायें, स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र - ये पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय; इस प्रकार प्रमाद, पन्द्रह प्रकार का होता है।"

समीक्षा - प्रमत्त-संयत नामक छठवें गुणस्थान में संज्वलन-कषाय के देशघाति-स्पर्द्धकों का तीव-उदय होता है और अप्रमत्त सातवें गुणस्थान में इन्हीं का मन्द-उदय होता है। छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक अट्ठाईस मूलगुणों के निरतिचार पालन करने का शुभोपयोग रूप शुभभाव होता है तथा सातवें अप्रमत्त-संयत से दसवें सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान तक संज्वलन के मन्द उदय से होने वाला तारतम्य रूप से घटता हुआ अबुद्धिपूर्वक शुभभाव रूप रागांश और तारतम्य रूप से ही बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग रूप वीतरागांश एक साथ पाया जाता है।

इस सम्बन्ध में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पृष्ठ 286 पर निम्न प्रकार खुलासा किया है -

'करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग, यथाख्यात-चारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होता है, लेकिन निचली अवस्था वाला शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे? तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग का ही मुख्य

उपदेश है। इसलिए वहाँ छद्मस्थ, जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि (शुभोपयोग) व हिंसा आदि (अशुभोपयोग) कार्यरूप परिणामों को छोड़कर **आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते, उस काल में उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं।**

यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म-रागादिक हैं, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की है, अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा उसे 'शुद्धोपयोगी' कहा है; इसलिए द्रव्यानुयोग के कथन की विधि, करणानुयोग से मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिस प्रकार यथाख्यात-चारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली दशा में द्रव्यानुयोग-अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग-अपेक्षा से सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।'

(6) धवला, 7/9-13

षट्खण्डागम के मूल सूत्र में कहा है —

सिद्धा: अबंधा।।7।।

अर्थात् **सिद्ध अबंधक हैं** ।

क्योंकि सिद्ध बन्ध-कारणों से व्यतिरिक्त मोक्ष के कारणों से संयुक्त होते हैं।

शंका – वे बन्ध के कारण कौनसे हैं? क्योंकि बन्ध और बन्ध के कारण जाने बिना मोक्ष के कारणों का ज्ञान नहीं हो सकता। कहा भी है –

जे बंधयरा भावा, मोक्खयरा चावि जे दु अज्झप्पे।
जे चावि बंध-मोक्खे, अकारया ते वि विण्णेया।।१।।

अर्थात् जो बन्ध के उत्पन्न करनेवाले भाव हैं और जो मोक्ष को उत्पन्न करनेवाले आध्यात्मिक भाव हैं, तथा जो बन्ध और मोक्ष, दोनों को नहीं उत्पन्न करनेवाले भाव हैं, वे सब भाव जानने योग्य हैं।

शंका – अतएव बन्ध के कारण बतलाना चाहिए?

समाधान – मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग – ये चार बन्ध के कारण हैं और सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय और अयोग – ये चार मोक्ष के कारण हैं।

कहा भी है –

मिच्छत्ताविरदी वि य, कसाय-जोगा य आसवा होंति।
दंसण-विरमण-णिग्गह, णिरोहया संवरो होंति।।२।।

अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मों के आस्रव अर्थात् आगमन-द्वार हैं तथा सम्यग्दर्शन, विषय-विरक्ति, कषाय-निग्रह और मन-वचन-काय का निरोध – ये संवर अर्थात् कर्मों के निरोधक हैं।

शंका – यदि ये ही मिथ्यात्वादि चार बन्ध के कारण हैं तो –

ओदइया बंधयरा, उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ, करणोभय-वज्जिओ होंति।।३।।

अर्थात् औदयिक भाव, बन्ध करनेवाले हैं; औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव, मोक्ष के कारण हैं; तथा पारिणामिकभाव, बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं।

– इस गाथा-सूत्र के साथ विरोध उत्पन्न होता है।

समाधान – विरोध नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि 'औदयिक भाव, बन्ध के कारण हैं' – ऐसा कहने पर सभी औदयिक भावों का ग्रहण नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वैसा मानने पर गति, जाति आदि नामकर्म-सम्बन्धी औदयिकभावों के भी बन्ध के कारण होने का प्रसंग आ जाता है।

शंका – देवगति के उदय के साथ भी तो कितनी ही प्रकृतियों का बन्ध होना देखा जाता है, तो फिर उनका कारण देवगति का उदय क्यों नहीं होता?

समाधान – उनका कारण देवगति का उदय नहीं होता, क्योंकि देवगति के उदय के अभाव में नियम से उनके बन्ध का अभाव नहीं पाया जाता।

'जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ, नियम से जिसका अन्वय और व्यतिरेक पाया जावे, तो वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है।' (अर्थात् जब एक के सद्भाव में दूसरे का सद्भाव और उसके अभाव में दूसरे का भी अभाव पाया जावे तभी उनमें कारण कार्य-भाव संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं।)

– इस न्याय से मिथ्यात्व आदि ही बन्ध के कारण हैं।

इन कारणों में **मिथ्यात्व**, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, व चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक-संस्थान, असंप्राप्तसृपाटिका-शरीर-संहनन, नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण - **इन सोलह प्रकृतियों के बन्ध का कारण मिथ्यात्वोदय** है, क्योंकि मिथ्यात्वोदय के अन्वय और व्यतिरेक के साथ, इन सोलह प्रकृतियों के बन्ध का अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है।

निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, न्यग्रोध-स्वाति-कुब्जक-वामन-शरीर-संस्थान, वज्रनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलित-शरीर-संहनन, तिर्यंचगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त-विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और नीचगोत्र – **इन पच्चीस प्रकृतियों के बन्ध में कारण अनन्तानुबन्धी-चतुष्क का उदय** है, क्योंकि उसी के उदय के अन्वय और व्यतिरेक के साथ, इन प्रकृतियों का भी अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है।

अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक-शरीर, औदारिक-शरीरांगोपांग, वज्रवृषभसंहनन और मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी – **इन दश प्रकृतियों के बन्ध का कारण अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क का उदय** है, क्योंकि उसके बिना इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं पाया जाता।

प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ – **इन चार प्रकृतियों के बन्ध का कारण इन्हीं का उदय** है, क्योंकि अपने उदय के बिना इनका बन्ध नहीं पाया जाता।

असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशकीर्ति – **इन छह प्रकृतियों के बन्ध का कारण प्रमाद** है, क्योंकि प्रमाद के बिना इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं पाया जाता।

शंका – प्रमाद किसे कहते हैं?

समाधान – चार संज्वलन-कषाय और नव नोकषाय – इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है।

शंका – पूर्वोक्त चार बन्ध के कारणों में प्रमाद का कहाँ अन्तर्भाव होता है?

समाधान – कषायों में प्रमाद का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि कषायों से पृथक् प्रमाद नहीं पाया जाता।

देवायु के बन्ध का कारण भी कषाय ही है, क्योंकि प्रमाद के हेतुभूत कषाय के उदय के अभाव में अप्रमत्त होकर मन्द-कषाय के उदयरूप से परिणत हुए जीव के देवायु के बन्ध का विनाश पाया जाता है।

निद्रा और प्रचला – **इन दो प्रकृतियों के भी बन्ध का कारण कषायोदय ही** है, क्योंकि अपूर्वकरण-काल के प्रथम सप्तम भाग में संज्वलन कषायों के उस काल के योग्य तीव्रोदय होने पर, इन प्रकृतियों का बन्ध पाया जाता है।

देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक-तैजस-कार्मणशरीर, समचतुरस्र-संस्थान, वैकियिक-शरीरांगोपांग, आहारक-शरीरांगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्‌वास, प्रशस्त-विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक-शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर – **इन तीस प्रकृतियों के भी बन्ध का कषायोदय ही कारण है, क्योंकि अपूर्वकरण-काल के सात भागों में से प्रथम छह भागों के अन्तिम समय तक मन्दतर-कषायोदय के साथ इनका बन्ध पाया जाता है।**

हास्य, रति, भय और जुगुप्सा – **इन चार प्रकृतियों के बन्ध का कारण अधःप्रवृत्त और अपूर्वकरण-सम्बन्धी कषायोदय है,** क्योंकि उन्हीं दोनों परिणामों के काल-सम्बन्धी कषायोदय में ही इन प्रकृतियों का बन्ध पाया जाता है।

चार संज्वलन-कषाय और पुरुषवेद – **इन पाँच प्रकृतियों के बन्ध का कारण बादर-कषाय** है, क्योंकि सूक्ष्म-कषाय (सूक्ष्म-साम्पराय) गुणस्थान में इनका बन्ध नहीं पाया जाता।

पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय – **इन सोलह प्रकृतियों का सामान्य कषायोदय (सूक्ष्म-साम्पराय) कारण** है, क्योंकि कषायों के अभाव में इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं पाया जाता।

साता-वेदनीय के बन्ध का कारण योग ही है, क्योंकि मिथ्यात्व, असंयम और कषाय – इनका अभाव होने पर भी एकमात्र योग के साथ ही इस प्रकृति का

बन्ध पाया जाता है और योग के अभाव में इस प्रकृति का बन्ध नहीं पाया जाता।

इनके अतिरिक्त और अन्य कोई बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ नहीं हैं, जिससे कि उनका कोई अन्य कारण हो।

शंका – असंयम भी बन्ध का कारण कहा गया है, सो वह किन प्रकृतियों के बन्ध का कारण होता है?

समाधान – यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि **संयम के घातक कषायरूप चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय का ही नाम 'असंयम' है।**

शंका – यदि असंयम, कषायों में ही अन्तर्भूत होता है तो फिर उसका पृथक् उपदेश किसलिए किया जाता है?

समाधान – यह कोई दोष नहीं, क्योंकि व्यवहारनय की अपेक्षा से उसका पृथक् उपदेश किया गया है।

बन्ध-कारणों की यह प्ररूपणा, पर्यायार्थिकनय का आश्रय करके की गई है, परन्तु द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन करने पर तो बन्ध का कारण केवल एक ही है, क्योंकि कारण-चतुष्क के समूह से ही बन्धरूप कार्य उत्पन्न होता है।''

(7) जयधवला, 1/4-8

विशेषार्थ – समस्त द्रव्यश्रुत बारह अंगों में बँटा हुआ है; उनमें से बारहवें अंग दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र–, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका – ये पाँच भेद हैं। इनमें से चौथे भेद पूर्वगत के उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं, जिनमें पाँचवाँ भेद ज्ञानप्रवादपूर्व है। इसके बारह अर्थाधिकार (वस्तु) हैं और प्रत्येक अर्थाधिकार, बीस-बीस प्राभृत संज्ञक अर्थाधिकारों में विभक्त है।

यहाँ पर इस पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे पेज्ज-प्राभृत या कषाय-प्राभृत से प्रयोजन है। गुणधर आचार्य को श्रुत-परम्परा से यही कषाय-प्राभृत प्राप्त हुआ था, जिसका अभ्यास करके गुणधर भट्टारक ने श्रुत-विच्छेद के भय से उसे अति-संक्षेप में एक सौ अस्सी गाथाओं में निबद्ध किया।

अनन्तर गुरु-परम्परा से प्राप्त उन एक सौ अस्सी गाथाओं का आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने अभ्यास करके, उन्हें यतिवृषभ आचार्य को पढाया, उन्हें पढ कर, यतिवृषभ आचार्य ने उन पर चूर्णिसूत्र लिखे।

इस प्रकार कषाय-प्राभृत पर जो कुछ लिखा गया, वह परम्परा से श्री वीरसेन -स्वामी को प्राप्त हुआ; उन्होंने उसका अभ्यास करके, उस पर 'जयधवला' नाम की विस्तृत टीका लिखी, जिसके रचने की यहाँ प्रतिज्ञा की है।

शंका – गुणधर भट्टारक (महान आचार्य) ने गाथा-सूत्रों के आदि में तथा यतिवृषभ स्थविर ने भी चूर्णिसूत्रों के आदि में मंगल क्यों नहीं किया?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रारम्भ किये हुए कार्य में विघ्नों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का विनाश करने के लिए मंगल किया जाता है और वे कर्म, परमागम के उपयोग से ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् गाथा-सूत्र और चूर्णि-सूत्र, परमागम का सार लेकर बनाये गये हैं; अतः परमागम में उपयुक्त होने से उनके कर्ताओं को मंगलाचरण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि जो काम मंगलाचरण से होता है, वही काम परमागम के उपयोग से भी हो जाता है; इसलिए गुणधर भट्टारक ने गाथा-सूत्रों के और यतिवृषभ स्थविर ने चूर्णि-सूत्रों केप्रारम्भ में मंगल नहीं किया है।

यदि कोई कहे कि परमागम के उपयोग से कर्मों का नाश होता है – यह बात असिद्ध है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है। कहा भी है –

ओदइया बंधयरा, उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ, करणोभय-वज्जिओ होइ।।१।।

अर्थात् औदयिक भावों से कर्म-बन्ध होता है; औपशमिक, क्षायिक और मिश्र भावों से मोक्ष होता है; परन्तु पारिणामिक भाव, बन्ध और मोक्ष – इन दोनों का कारण नहीं है।

समीक्षा – यहाँ समाधान करते हुए **शुद्ध-परिणामों के समान शुभ-परिणामों को भी कर्म-क्षय का कारण बतलाया है, पर इसकी पुष्टि के लिए प्रमाणरूप से जो गाथा उद्धृत की गई है, उसमें औदयिक भावों से कर्म-बन्ध होता है – यह कहा है।**

इस प्रकार उक्त दोनों कथनों में परस्पर-विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि शुभ-परिणाम, कषाय आदि के उदय से ही होते हैं, क्षयोपशम आदि से नहीं;

इसलिए जबकि औदयिकभाव, कर्म-बन्ध के कारण हैं तो शुभ-परिणामों से कर्मों का बन्ध ही होना चाहिए, क्षय नहीं।

इसका **समाधान** यह है कि **यद्यपि शुभ-परिणाम, मात्र कर्म-बन्ध के कारण हैं; फिर भी जो शुभ-परिणाम, सम्यग्दर्शन आदि की उत्पत्ति के समय होते हैं और जो सम्यग्दर्शन आदि के सद्भाव में पाये जाते हैं, वे आत्मा के विकास में बाधक नहीं होने के कारण उपचार से कर्म-क्षय के कारण कहे जाते हैं।**

इसी प्रकार **क्षायोपशमिक भावों में भी प्रायः देश-घाति-कर्मों के उदय की अपेक्षा रहती है, इसलिए उदयाभावी क्षय और सद्वस्थारूप उपशम से आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, उसे यद्यपि उदयजन्य मलिनता से पृथक् नहीं किया जा सकता है, फिर भी वह मलिनता, क्षयोपशम से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन आदि का नाश नहीं कर सकती है और न कर्म-क्षय में बाधक ही हो सकती है, इसलिए गाथा में क्षायोपशमिक भाव को भी कर्म-क्षय का कारण कहा है।**

यदि कहा जाय कि परमागम के उपयोग से कर्मों का क्षय होने पर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य में विघ्नों की और विद्यारूप फल के प्राप्त न होने की सम्भावना तो बनी ही रहती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है अर्थात् जबकि परमागम के उपयोग से विघ्न के और विद्याफल के भाव प्राप्त न होने के कारणभूत कर्मों का नाश हो जाता है, तब फिर उन कर्मों के कार्यरूप विघ्न का सद्भाव और विद्याफल का अभाव बना ही रहे, यह कैसे सम्भव है? कारण के अभाव में कार्य नहीं होता, यह सर्वमान्य नियम है; अतः यह निश्चित हुआ कि परमागम के उपयोग से विघ्नों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का नाश हो जाता है।

यदि कहा जाए कि श्रद्धानुसारी अर्थात् आगम में जो लिखा है या गुरु ने जो कुछ कहा है, उसका अनुसरण करनेवाले, शिष्यों में देवता-विषयक भक्ति को उत्पन्न कराने के लिए मंगल किया जाता है; सो भी नहीं है, क्योंकि मंगल के बिना भी केवल गुरु-वचन से ही उनमें देवता-विषयक भक्ति की उत्पत्ति देखी जाती है।

यदि कहा जाय कि प्रमाणानुसारी अर्थात् युक्ति के बल से आगम या गुरु-वचन को प्रमाण माननेवाले शिष्यों में देवता-विषयक भक्ति को उत्पन्न करने के लिए मंगल किया जाता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि **जो शिष्य, युक्ति की अपेक्षा किये बिना मात्र गुरु-वचन के अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसे प्रमाणानुसारी मानने में विरोध आता है।**

यदि कहा जाय कि शास्त्र के आदि में किये गये मंगल से भक्तिमानों (भक्ति-धारकों) में भक्ति का उत्पन्न किया जाना सम्भव है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो कार्य उत्पन्न हो चुका है, उसकी पुनः उत्पत्ति मानने में विरोध आता है अर्थात् जिनमें पहले से ही श्रद्धामूलक भक्ति विद्यमान है, उनमें पुनः भक्ति के उत्पन्न करने के लिए मंगल का किया जाना निरर्थक है।

यदि कहा जाय कि शिष्यों में सम्यक् श्रद्धा का अस्तित्व असिद्ध है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि अहेतुवादस्वरूप अर्थात् जो युक्ति-प्रयोग के बिना स्वयं प्रमाण है – ऐसे दृष्टिवाद अंग का सुनना, सम्यक्त्व के बिना बन नहीं सकता है, इसलिए उनके सम्यक्त्व का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

यदि कहा जाय कि लाभ, पूजा और सत्कार की इच्छा से भी अनेक शिष्य दृष्टिवाद को सुनते हैं, अतः अहेतुवादात्मक दृष्टिवाद का सुनना, सम्यक्त्व के बिना नहीं बन सकता है, यह कथन व्यभिचारी हो जाता है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि **सम्यक्त्व के बिना श्रवण करनेवाले शिष्यों के द्रव्य-श्रवणपने को छोड़कर भाव-श्रवणपना नहीं पाया जाता है** अर्थात् जो शिष्य, सम्यक्त्व के न होने पर भी केवल लाभादिक की इच्छा से दृष्टिवाद का श्रवण करते हैं, उनका सुनना केवल सुनना मात्र है, उससे थोड़ा भी आत्म-बोध नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि यहाँ द्रव्य-श्रवण से ही प्रयोजन है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य-श्रवण से अज्ञान का निराकरण होकर, कर्मक्षय के निमित्तभूत सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है; अतः इस प्रकार के शुद्धनय के अभिप्राय से गुणधर भट्टारक और यतिवृषभ स्थविर ने गाथासूत्रों और चूर्णिसूत्रों के आदि में मंगल नहीं किया है – ऐसा समझना चाहिए; किन्तु गौतमस्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में 'णमो जिणाणं' इत्यादि रूप से मंगल किया है।

यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है; अतः जो व्यवहारनय, बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है, उसी का आश्रय करना चाहिए – ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है।

यदि कहा जाय कि **पुण्य-कर्म के बाँधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्य-बन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है अर्थात् पुण्य-बन्ध के कारणभूत कामों को जैसे देशव्रती श्रावक करते हैं, वैसे ही मुनि भी करते हैं, मुनि के लिए उनका एकान्त से निषेध नहीं है।**

यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिए यहाँ कहा जा रहा है, उसी प्रकार उनके सराग-संयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि देशव्रत के समान सराग-संयम भी पुण्य-बन्ध का कारण है।

यदि कहा जाय कि मुनियों के सराग-संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होओ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मुनियों के सराग-संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्ति-गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि सराग-संयम, गुण-श्रेणी-निर्जरा का कारण है, क्योंकि उससे बन्ध की अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मों की निर्जरा असंख्यात-गुणी होती है, अतः सराग-संयम में मुनियों की प्रवृत्ति का होना योग्य है, सो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिए, क्योंकि अरहन्त-नमस्कार, तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यात-गुणी कर्म-निर्जरा का कारण है, इसलिए सराग-संयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

कहा भी है –

अरहंत-णमोक्कारं, भावेण य जो करेदि पयड-मदी।
सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं, पावइ अचिरेण कालेण।।2।।

अर्थात् जो विवेकी जीव, भावपूर्वक अरहन्त को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सोना, खाना, जाना, वापिस आना और शास्त्र का प्रारम्भ करना आदि क्रियाओं में अरहन्त-नमस्कार अवश्य करना चाहिए; किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से गुणधर भट्टारक का यह अभिप्राय है कि परमागम में उपयोग के अतिरिक्त अन्य सब क्रियाओं में अरहन्त-नमस्कार नियम से करना चाहिए, क्योंकि अरहन्त-नमस्कार किये बिना प्रारम्भ की हुई क्रिया से मंगल की उपलब्धि नहीं होती अर्थात् सोना, खाना आदि क्रियाएँ स्वयं मंगलरूप नहीं है; अतः उनमें मंगल का किया जाना आवश्यक है, किन्तु शास्त्र के प्रारम्भ में मंगल करने का नियम नहीं है, क्योंकि परमागम के उपयोग में स्वयं मंगलस्वरूप होने से उसमें मंगल फल की प्राप्ति अनायास हो जाती है। इसी अर्थ-विशेष का ज्ञान कराने के लिए गुणधर भट्टारक (महान आचार्य) ने ग्रन्थ के आदि में मंगल नहीं किया है।

(8) प्रवचनसार, गाथा 9

यहाँ शुभ-अशुभ-शुद्ध – इन तीनरूप उपयोगों को चौदह गुणस्थानों में वर्गीकृत कर संक्षेप में समझाया गया है –

मिथ्यात्व-सासादन-मिश्र-गुणस्थान-त्रये तारतम्येनाऽशुभोपयोगः, तदनन्तरमऽसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयत-गुणस्थान-त्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमऽप्रमत्तादि-क्षीणकषायाऽन्त-गुणस्थान-षट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्यऽयोगिजिन-गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग फलमिति भावार्थः।

अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र – इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (घटता हुआ) अशुभोपयोग, इसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत – इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग, इसके आगे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुद्धोपयोग, इसके बाद सयोगी जिन और अयोगी जिन; ये दो गुणस्थान शुद्धोपयोग के फल हैं – यह भावार्थ है। (तात्पर्यवृत्ति टीका)

समीक्षा – चौदह गुणस्थानों के संक्षिप्त विभाजन में यहाँ टीका में तारतम्य

से, पहले से तीसरे तक अशुभोपयोग, चौथे से छठवें तक शुभोपयोग तथा सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोग कहा है, परन्तु यह कथन मुख्यता/बहुलता की दृष्टि से कथंचित् ही है, सर्वथा नहीं। वह इस प्रकार है –

पहले गुणस्थानवर्ती जीव भी शुक्ललेश्या में मरण कर, नवमें गैवेयक तक तथा दूसरे गुणस्थानवाले देवों में उत्पन्न होते हैं। देवायु का बन्ध, शुभभावों से होता है; अतः यहाँ अशुभोपयोग के साथ शुभभाव भी स्वतःसिद्ध है।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित सम्यक्त्वाचरण-चारित्र तथा पाँचवें-छठवें गुणस्थान में पूर्वोक्त सहित क्रमशः देशचारित्र, सकलचारित्र रूप रत्नत्रय या संवर-निर्जरातत्त्व विद्यमान हैं; अतः शुभोपयोग के साथ शुद्धोपयोग तथा शुद्धपरिणति सहज-सिद्ध है। इसी प्रकार चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अविरति, देश-विरति, प्रमाद, कषाय, योग से होनेवाला अशुभ-आस्रवभाव तथा आर्तध्यान-रौद्रध्यान भी पाया जाता है; इस प्रकार यहाँ अशुभोपयोग भी सिद्ध है।

सातवें से दसवें गुणस्थान तक भी अव्यक्त विद्यमान भय आदि संज्ञाएँ तथा संज्वलन-कषाय आदि से होनेवाले बन्ध से अशुद्धता भी आगम-सिद्ध है।

इस प्रकार पहले से तीसरे गुणस्थान तक बहुलतया अशुभोपयोग और गौणतया शुभभाव है। चौथे से छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग की अधिकता है, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग, अपेक्षाकृत कम एवं यथायोग्य तथा शुद्धपरिणति सदाकाल विद्यमान है। आगे सातवें से दसवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग तथा आगम -सिद्ध (अव्यक्त कषायरूप) अशुद्धता विद्यमान है। शेष गुणस्थान, शुद्धोपयोग और उसके फलरूप ही हैं, वहाँ शुभभाव रंच मात्र भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अधिकार में सुन्दर विश्लेषण किया गया है, उसके अनुसार कुछ लिखते हैं –

उक्त सर्व कथन केवली-श्रुतकेवली कथित सम्यग्ज्ञान के एक अवयवरूप करणानुयोग का है; जिसमें जीव-कर्मादिक का, त्रिलोकादि का तथा मोक्षमार्ग के अवयव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का निरूपण होता है, जिसमें कर्म-प्रकृतियों के उदय-उपशमादि की अपेक्षा सूक्ष्मता सहित निमित्त-नैमित्तिक भावों को याथातथ्य रूप में दर्शाते हुए वर्णन किया जाता है; लेकिन इसमें छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार

वर्णन नहीं किया जाता है।

जैसे, कितने ही जीव, बाह्य में तत्त्व-विचार करते हैं, व्रतादिक पालते हैं; तथापि अन्तरंग में मोहोदय विद्यमान होने से सम्यक्त्व-चारित्र शक्ति प्रगट न होने से मिथ्यात्वी-अव्रती ही बने रहते हैं तथा कितने ही जीव, द्रव्यादि और व्रतादिक के विचार रहित होकर, अन्य शुभाशुभ कार्यों में भी प्रवर्तते हैं, किन्तु अन्तरंग में मोहोदय विद्यमान न होने से सम्यक्त्व-चारित्र शक्ति प्रगट होने से सम्यक्त्वी व व्रती (देशव्रती) होते हैं।

कहीं-कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती, तथापि सूक्ष्म शक्ति के सद्भाव से उसका वहाँ अस्तित्व कहा है। जैसे, मुनि के अब्रह्म कार्य कुछ नहीं, तथापि नवमें गुणस्थान पर्यन्त मैथुन संज्ञा कही है। अहमिन्द्रों के दुःख का कारण व्यक्त नहीं है, तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है।

इस तरह करणानुयोग में जीव के विकारी भावों का और मोहादि कर्मोदय का तारतम्य रूप (डिग्री टू डिग्री) निरूपण है। **उसमें 'मेरे विचार से या तेरे विचार से' जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता, न ही किया जाना चाहिए। सम्यग्ज्ञानी वही है, जो वस्तु-स्वरूप को परिपूर्ण जानता है, कम नहीं जानता, अधिक नहीं जानता; जैसा वस्तु का यथार्थ सत्य-स्वरूप है, वैसा ही जानता है, विपरीतता रहित जानता है, संशय रहित जानता है।**

करणानुयोगानुसार सर्वार्थसिद्धि के देव, जिनकी कषायों की प्रवृत्ति नगण्य (नहीं के बराबर) है, देवियों का संग-सम्पर्क भी नहीं; तथापि असंयमी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ही हैं, जबकि पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्य, व्यापार व अब्रह्म आदि कषाय-कायरूप बहुत प्रवर्तते हैं, तथापि उनके देशसंयम कहा है।

इस प्रकार जब हम सूक्ष्मता से आगमनिष्ठ होकर, क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन एवं क्षायोपशमिक-चारित्ररूप मोक्षमार्गस्थ जीवों की पर्याय में विद्यमान निर्मलता व निर्दोषता/सदोषता का कारण खोजते हैं तो विदित हो जाता है कि निर्मलता/निर्दोषता का कारण तज्जन्य मोह की प्रकृति के सर्वघाति-स्पर्द्धकों का अनुदय (उदयाभावी क्षय अर्थात् स्वमुख से उदय न होना) एवं उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम (उदीरणा न होना ही) है तथा समलता/सदोषता का कारण उस ही मोह-प्रकृति के देशघाति-स्पर्द्धकों का उदय ही है।

इस क्षायोपशमिक, एक ही पर्याय में निर्मलता/अकालुष्य तथा अल्प मलिनता/कालुष्यरूप अविभागी-प्रतिच्छेदों की युगपत् विद्यमानता होने से क्षायोपशमिक भाव की मिश्रभाव संज्ञा है।

इस जीव के जो सर्वघाति-स्पर्द्धकों के अनुदय से व्यक्त निर्मलता है, उससे निरन्तर यथायोग्य कर्मों का संवर और निर्जरा होती रहती है तथा जो देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय से जो शुभाशुभ राग (कषायांश) उत्पन्न होता है, उससे यथायोग्य कर्मों का आस्रव-बन्ध होता रहता है। तात्पर्य यह है कि जो वीतरागतारूप शुद्धि अंश प्रगट है, उससे संवर-निर्जरा है और जो सरागता रूप अशुद्धि अंश है, उससे आस्रव-बन्ध है। इस प्रकार एक ही क्षायोपशमिकभाव अर्थात् मिश्रभाव से आस्रव -बन्ध-संवर-निर्जरा, चारों घटित होते हैं।

अब यदि कोई मनीषी विद्वान, आगम-सिद्ध इस हस्तामलकवत् तथ्य को न स्वीकारे और कहे कि यह समग्र क्षायोपशमिक भाव, एक शुभोपयोग भाव मात्र जितना ही है, इससे ही पुण्यास्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा युगपत् होते रहते हैं तो यह कथन स्पष्ट रूप से आगम के विरुद्ध होने से सही नहीं ठहराया जा सकता।

अथवा कोई ऐसा कहे कि शुभोपयोग या शुभभाव, क्षायोपशमिक भाव है, तो भी सही नहीं है; क्योंकि उसने अशुद्ध्यंश को शुद्ध्यंश मान लिया और मिश्र-भाव को समझा ही नहीं; अतः आगम-निष्ठ विद्वानों को निष्पक्ष भाव से इस विषय पर विचार करना चाहिए और यदि वे इस प्रकार उक्त आगम-चर्चा से सहमत होते हैं तो उनका स्वागत है और यदि सहमत न हों तो कृपया वे अपना पक्ष/समाधान प्रस्तुत करें।

उक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षायोपशमिक भाव न तो सर्वथा औदयिक है, न सर्वथा क्षायिक है, न सर्वथा औपशमिक है, बल्कि सर्वघाति-स्पर्द्धकों के अनुदयरूप क्षयोपशम तथा देशघाति-स्पर्द्धकों के उदयरूप एक मिश्र-भाव है; इसलिए इस मिश्र-भाव को मात्र शुभोपयोगरूप मानना/मनवाना, किसी भी प्रकार से उचित नहीं ठहराया जा सकता।

शिवाकांक्षी

दि. 09.09.07 — **ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'** (भोपाल)

*****

पंचम चर्चा

धवलादि ग्रन्थों में क्षयोपशम भाव का स्वरूप

धवलादि ग्रन्थों में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व व चारित्र के विषय में जो प. पू. आचार्य वीरसेन, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य जयसेन, आचार्य ब्रह्मदेवसूरि आदि ने प्रश्नोत्तररूप में स्पष्टीकरण किया है, उसे यहाँ उद्धृत करना अभीष्ट है –

(1) धवला, पु. 14, पृष्ठ 21-22

सम्मत-देस-घादि-फद्दयाणमुदएण सम्मत्तुप्पत्तीदा ओदइयं। ओवसमियं पि तं, सव्व-घादि-फद्दयाणमुदयाभावादो।

अर्थ – सम्यक्त्व के देशघाति-स्पर्द्धकों के उदय से सम्यक्त्व (वेदक सम्यक्त्व) की उत्पत्ति होती है; इसलिए तो वह औदयिक है और वह औपशमिक भी है क्योंकि वहाँ सर्वघाति-स्पर्द्धकों का उदय नहीं पाया जाता।' (इसको हम उदय व उपशम के युगपत्पने की विवक्षा से 'उदयोपशमिक भाव' भी कह सकते हैं।)–

– विशेष देखें, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 184

(2) धवला पुस्तक 8, पृष्ठ 54

कोध-संजलणो संजलण-कसायस्स तिव्वाणुभागोदय-पच्चओ, उवसम-सेडिम्हि कोध-चरिमाणुभागोदयादो अणंत-गुण-हीणेण माणाणुभागोदयेण कोधसंजलणस्स बंधाणुवलंभादो।

अर्थ – संज्वलन क्रोध का बन्ध, संज्वलन कषाय के तीव्र अनुभागोदय निमित्तक है, क्योंकि उपशमश्रेणी में क्रोध के अन्तिम अनुभागोदय की अपेक्षा अनन्तगुणे हीन संज्वलन मान के अनुभागोदय में संज्वलन क्रोध कषाय का बन्ध नहीं पाया जाता।' (इसी प्रकार मान-माया-लोभ में भी समझना।)

फलितार्थ – जघन्य कषायांश स्वप्रकृति का बन्ध करने में असमर्थ है, परन्तु उससे बन्ध-सामान्य तो होता ही है।

(3) धवला, पुस्तक 8, पृष्ठ 77

सोलस-कम्माणि कसाय-सामण्ण-पच्चइयाणि, अणु-मेत्त-कसाए वि संते तेसिं बंधुवलंभादो।

अर्थ – (दसवें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में) **सोलह कर्म-प्रकृतियाँ** (पाँच ज्ञानावरण + पाँच अन्तराय + 4 दर्शनावरण + एक यशःकीर्ति + एक उच्चगोत्र) **कषाय-सामान्य के निमित्त से बंधनेवाली हैं, क्योंकि अणुमात्र कषाय के भी होने पर उनका बन्ध पाया जाता है।**

(4) आप्तमीमांसा, कारिका 98

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो, नाऽज्ञानाद्वीत-मोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यात्, मोहान्माहिनोऽन्यथा।।98।।

अर्थ – मोह सहित अज्ञान से बन्ध होता है, जो अज्ञान मोह से रहित है, वह (फलदान-समर्थ) कर्मबन्ध का कर्ता नहीं है और जो अल्पज्ञान, मोह से रहित है, उससे मोक्ष होता है, परन्तु मोह सहित अल्पज्ञान से कर्म-बन्ध ही होता है।

(5) प्रवचनसार, गाथा 45

औदयिका भावाः बन्धकारणम्' इत्यागम-वचनं तर्हि वृथा भवति।

परिहारमाह – औदयिका भावाः बन्ध-कारणं भवन्ति च, परं किन्तु मोहोदय-सहिताः। द्रव्य-मोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्म-भावना-बलेन भाव-मोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदय-मात्रेण बन्धो भवति, तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः। (तात्पर्यवृत्ति टीका)

प्रश्न – 'औदयिकभाव बन्ध के कारण है' – यह आगम-वचन वृथा हो जाएगा?

उत्तर – औदयिकभाव, बन्ध के कारण होते हैं, किन्तु मोह के उदय सहित होने पर ही। द्रव्य-मोह के उदय होने पर भी यदि (यह जीव) शुद्धात्म-भावना के बल से भाव-मोहरूप से परिणमन नहीं करता है तो बन्ध नहीं होता है। यदि कर्मोदय मात्र से बन्ध होता हो तो संसारी जीवों के सर्वदा ही कर्म का उदय विद्यमान होने के कारण सदा बन्ध ही होता रहता या होता रहेगा, कभी मोक्ष नहीं होगा – यह अभिप्राय है।

फलितार्थ – वस्तुतः मोहजनित औदयिकभाव ही बन्ध के कारण हैं, अन्य नहीं अर्थात् मोहजनित भाव (मिथ्यात्व एवं कषाय-परिणाम) ही औदयिक हैं, उसके बिना सब क्षायिकवत् है, क्योंकि बन्ध के पाँच प्रत्ययों में **(मिथ्यादर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगाः बन्ध-हेतवः)** मिथ्यादर्शन अर्थात् दर्शन-मोह के उदय से तथा अविरति-प्रमाद-कषाय अर्थात् इन तीन चारित्रमोह के उदय से होनेवाले औदयिक भाव हैं।

योग तो सकषाय एवं निःकषाय दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है; अतः वह आस्रव-बन्ध का सामान्य प्रत्यय है।

(6) प्रवचनसार गाथा 165 (तात्पर्यवृत्ति)

किं च परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूप धर्म्यध्यानशुक्ल-ध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्ति-स्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे बन्धो न भवतीत्यभिप्रायः।

अर्थात् परम चैतन्यपरिणतिलक्षण परमात्मतत्त्व की भावनारूप धर्म्यध्यान एवं शुक्लध्यान के बल से, जैसे जघन्य स्निग्ध-शक्ति के समान राग के क्षीण होने पर और जघन्य रूक्ष-शक्ति के समान द्वेष के क्षीण होने पर जल और रेत के समान जीव का बन्ध नहीं होता है; उसी प्रकार पुद्गल-परमाणु के भी जघन्य स्निग्ध-रूक्ष-शक्ति का प्रसंग होने पर बन्ध नहीं होता है – ऐसा अभिप्राय है।

(7) द्रव्यसंग्रह गाथा 32

समस्तकर्मविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचैतन्य-विलासलक्षणज्ञानगुणस्य अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा संबंधिनी या तु निर्मलानुभूतिस्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणति-रूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादिकर्म येन भावेन, स भावबन्धो भण्यते।

अर्थात् समस्त कर्म-बन्ध नष्ट करने में समर्थ, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय परम चैतन्य-विलास जिसका लक्षण है – ऐसे ज्ञानगुण से संबंधित अथवा अभेदनय से अनन्त-ज्ञानादि गुण के आधारभूत परमात्मा के साथ संबंधित

जो निर्मल अनुभूति, उससे विरुद्ध मिथ्यात्व-रागादि परिणतिरूप अथवा अशुद्ध चेतनभावस्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं, वह परिणाम भावबन्ध कहलाता है।

समीक्षा – भावबन्ध अर्थात् जीव का सविकार चैतन्य-परिणाम या भाव रूप मोह-क्षोभ परिणाम (मिथ्यात्व + कषाय) ही द्रव्यबन्ध (नवीन द्रव्यकर्म के बन्ध) का कारण होता है और यह दर्शनमोह एवं चारित्रमोह के मन्द-तीव्र उदयानुसार ही होता है। यद्यपि जब दोनों के मात्र देशघाति-स्पर्द्धक उदय में रहते हैं, तब श्रद्धा व चारित्र में उतने अंशों में समलता रहती है; तथापि सर्वघाति-स्पर्द्धकों के अनुदय से उत्पन्न विमलता का नाश करने में वे समर्थ नहीं होते हैं।

यद्यपि उस समलतारूप जघन्य अंश से स्वप्रकृति का बन्ध नहीं होता, तथापि ज्ञानावरणादि अन्य प्रकृतियों का यथायोग्य बन्ध तो होता ही है तथा जो निर्विकाररूप निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अंश प्रगट होता है, उससे कभी भी बन्ध नहीं होता।

एक विशेष बात जो ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि सम्यग्दर्शन की पर्याय तो पूरी ही होती है, आधी-अधूरी नहीं होती, चाहे चतुर्थ गुणस्थान में अविरत क्षायिक सम्यग्दर्शन हो या औपशमिक या क्षायोपशमिक हो, सम्यग्दर्शन तो मिथ्यापने से सर्वथा रहित, पूरा ही होता है।

जबकि ज्ञान-चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त हो जाने पर भी अपूर्ण ही रहते हैं और एकदेश व सर्वदेशचारित्र के ग्रहणपूर्वक अर्थात् संयम के ग्रहणपूर्वक ही चारित्रमोह को प्रक्षीण करते हुए क्रमशः शुद्धि की वृद्धि को प्राप्त करते हुए यथाख्यातचारित्ररूप पूर्णता को उपलब्ध कर, वीतरागी छद्मस्थ (बारहवें गुणस्थान-वर्ती) हो जाते हैं। तत्पश्चात् – **मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणन्तरायक्षयाच्च केवलम्।** (तत्त्वार्थसूत्र, 10/1)

अर्थात् इस सूत्रानुसार मोह का क्षय होने के उपरान्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय – इन तीनों घातिकर्मों का एक साथ क्षय होते ही वे अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य के धनी अरिहन्त परमात्मा सयोगी जिन हो जाते हैं, फिर बिना बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अघातिया कर्मों का क्षय होते ही अशरीरी सिद्ध परमात्मा बन

(ऊर्ध्वगमनस्वभाव से) लोकाग्र में जा विराजते हैं। यह सब शुद्धोपयोग का फल है, शुभोपयोग का नहीं।

शुभोपयोग तो मात्र साधक अवस्था में सहचर निमित्त मात्र होता है, जो अशुभोपयोग से बचाये रखता है तथा शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प दशा की प्राप्ति में अनुकूल होता है। 'कारणानुविधायीनि कार्याणि' अर्थात् कारण जैसा कार्य अथवा कारण का अनुसरण करके ही कार्य होता है – इस न्यायानुसार **कारण की भिन्नता से कार्य की भिन्नता जिनागम में सर्वत्र मानी गयी है।**

अब यदि कोई जैनभासी विद्वान् निश्चय सम्यग्दर्शन को (औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन को) शुभोपयोग का पर्यायवाची सिद्ध करने लगे – मात्र इस कुतर्क के आधार पर कि 'जब मिथ्यात्व अशुभभाव है, अतः सम्यग्दर्शन शुभभाव स्वतःसिद्ध हो गया।

साथ ही कोई यह भी कहे कि चौथे से सातवें गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन सराग होता है और बाद के, ऊपर के गुणस्थानों में वीतराग होता है, तो क्या इसे आगमनिष्ठ, निष्पक्ष, आगम-अध्यात्म-मर्मज्ञ विद्वान् ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेंगे? – यह तो मात्र उपचार-कथन है। यह तो चारित्र गुण की सराग-वीतराग अवस्था का सम्यग्दर्शन पर आरोप करके कथन किया है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन तो सादि-अनन्तकाल तक एकरूप एकसा ही वर्तता है; **अतः यदि सम्यग्दर्शन शुभोपयोग या सराग है तो क्या शुभोपयोग या राग के समान सम्यग्दर्शन को भी बन्ध का कारण माना जा सकता है? वस्तुतः सम्यग्दर्शन को शुभोपयोग सिद्ध करना तथा शुभोपयोग को बलात् क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करना, उसे चारित्र का सराग मलिनांश नहीं मानना – यह एक प्रकार से श्रुत का अवर्णवाद ही है।**

लगता है, आजकल विद्वान् आगम-निष्ठ कम और व्यक्ति-निष्ठ ज्यादा हो गये हैं, इसीलिए निष्पक्ष वस्तु-निष्ठ एवं आगम-निष्ठ चिन्तन-मनन से विमुख हो अपने मनमाने कपोल-कल्पित चिन्तनों को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। निश्चित ही यह एक आत्मघाती कदम है।

यह जिनागम का अवर्णवाद ही नहीं तो और क्या है? कहीं यह हमारी ऐतिहासिक भूल न बन जाए?

बीसवीं शताब्दी में जिनागम को ताड़पत्रों से निकाल कर, कागज पर छपवा कर; प्रथम शास्त्राकार, फिर पुस्तकाकार रूप में प्रगट किया गया। शताधिक विद्वानों ने अपने अथक् श्रम एवं बुद्धिबल से उन संस्कृत-प्राकृत में लिखे चारों अनुयोगों के ग्रन्थों को प्रचलित हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित करा कर, जन-सामान्य के पठन-पाठन एवं स्वाध्याय के लिए उपलब्ध करा दिया।

लेकिन अब लगता है, कोई आगम और अध्यात्म के सुमेल को समझने-समझाने वाला निष्पक्ष, निष्णात विद्वान् नहीं रहा; अतः मैंने फिर 'एकला चलो रे' की नीति को मन में धारण कर, आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक में प्रतिपादित चारों अनुयोगों से सन्तुलित तत्त्व-विवेचना को हृदयंगम कर, इस वर्तमान इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही शुरू हो रही धर्म एवं तत्त्वों की मिथ्या-प्ररूपणाओं से ऊब कर, आगम-अध्यात्म ग्रन्थों के आधार से उनके प्रमाणों को बिना तोड़े-मरोड़े, ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा लेकर, यह कलम चलाने का साहस-विकल्प संजोया है।

जिनवाणी माँ का मंगल आशीर्वाद भी भरपूर मिल रहा है; अत: स्वल्प-बुद्धि-प्रमाण सत्यार्थ पदों के किंचित् ज्ञान-बल से यह विनम्र आलेख लिखा है। आशा है कि यह मिथ्या प्ररूपणाओं के निरसन में अवश्य निमित्त बनेगा।

'खरा सो मेरा' (Right is Mine) – **यही हमारी नीति होनी चाहिए; 'मेरा सो खरा'**(Mine is right) – **इस नीति से हमें सदा दूर ही रहना चाहिए।**

जैनदर्शन, किसी देश-काल-परिस्थिति से या किसी व्यक्ति-विशेष से बँधकर नहीं चलता है। यह तो केवली-श्रुतकेवलियों द्वारा कथित सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक वीतराग-विज्ञान है, जो कि शाश्वत वस्तु-व्यवस्था को अन्यून (न कम), अनतिरिक्त (न ज्यादा), याथातथ्य (जैसा है वैसा), बिना विपरीतता के दर्शानेवाला दर्शन है।

यदि कोई जैनाभासी आगमज्ञ, इस भय से कि पुण्य को एवं सराग-संयम को हेय कहने से जन-सामान्य, कहीं पाप को या असंयम को उपादेय मान लेंगे और धर्माचरण से विमुख हो जाएँगे तो उनका ऐसा सोचना भी यथार्थता के धरातल पर सही नहीं है, वरन् आगम-विरुद्ध भी है।

क्या जैनदर्शन, किसी को पापकर्म करने की छूट देता है? क्या वह, पुण्यास्रव-बन्ध को वीतरागभावरूप संवर-निर्जरातत्त्व बतलाता है? अरे! जैनदर्शन तो पुण्य को सोने की बेड़ी और पाप को लोहे की बेड़ी सिद्ध करता है, दोनों को कर्म कहता है, धर्म नहीं।

वस्तुतः व्रत (पुण्य) और अव्रत (पाप), दोनों प्रकार के विकल्प रहित तथा जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ भी प्रयोजन नहीं – ऐसा उदासीन, वीतराग -स्वरूप, शुद्धोपयोग ही धर्म है, निश्चय मोक्षमार्ग है; परन्तु निचली दशा में (चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि से छठे-सातवें स्वस्थान अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों तक) शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाया जाता है, इसलिए उपचार से पुण्यबन्ध के कारण व्रतादिक सरागसंयमरूप शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है।

परमार्थतः पुण्यबन्धकारक शुभभाव, मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं हो सकता, व्यवहार, (उपचार) से ही उसे मोक्ष का परम्परा कारण कहा जा सकता है। वस्तुतः जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके, वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर शुभोपयोगरूप शुभाचरण में ही प्रवर्तन करने की जिनाज्ञा है, क्योंकि शुभोपयोग की अपेक्षा अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है। शुभ-अशुभ, इन दोनों की एक 'अशुद्धोपयोग' ही संज्ञा है।

वस्तुतः जैनदर्शन तो किसी को भी पाप में जाने नहीं देता; पुण्य को धर्म मानने नहीं देता, व्यवहार से कहने देता है, करने देता है। अरे! पुण्य को धर्म कहना उपचार है, व्यवहार है, परन्तु पुण्य को धर्म मानना मिथ्यात्व है।

अरे भाई! आज मानो, कल मानो, या अनन्तकाल के बाद मानो, यह परमार्थ-स्वरूप जाने-माने बिना, स्व-पर के एकत्व के अध्यास व अभ्यासरूप मिथ्यात्व का प्रक्षालन सम्भव नहीं होगा। इसलिए आत्मसिद्धि में कहा है –

एक होय त्रण काल मां, परमारथ नो पन्थ।
प्रेरे जे परमार्थ ने, ते व्यवहार समन्त ।।36।। (श्रीमद् राजचन्द्र)

शिवाकांक्षी

– **ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'** (भोपाल)

*****

षष्ठम चर्चा

श्री प्रवचनसार पर आधारित

शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग की सम्यक् चर्चा

परमपूज्य श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित परमागमों में 'प्रवचनसार' एक अद्वितीय ज्ञानचक्षु है, जिसमें आगम-अध्यात्म का अद्भुत सुमेल-सन्तुलन दर्शा कर, टीकाकार-द्वय प. पू. श्री अमृतचन्द्राचार्य एवं प. पू. श्री जयसेनाचार्य ने *द्रव्यानुयोग-चरणानुयोग-करणानुयोग* की सुमेल, सुसंगतता स्थापित कर, हमारे चित्त में उठनेवाले प्रश्नों का सहज ही समाधान कर दिया है।

इसी से आत्मज्ञजन इस ग्रन्थ को 'दिव्यध्वनिसार' नाम से भी पुकारते हैं। वस्तुतः इसमें ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन-ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन-चरणानुयोगसूचकचूलिका – ये जो तीन महा अधिकार हैं, वे प्रकारान्तर से क्रमशः देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को दर्शानेवाले अधिकार ही हैं।

प्रथम '**ज्ञान-तत्त्व-प्रज्ञापन**' में 12 गाथाओं तक मंगलाचरण एवं भूमिका के पश्चात् इस महा अधिकार को चार अवान्तर (उप/लघु) अधिकारों में विभक्त किया है – 13 से 20 गाथाओं तक **शुद्धोपयोग अधिकार**, 21 से 52 गाथाओं तक **ज्ञान अधिकार**, 53 से 68 गाथाओं तक **आनन्द (सुख) अधिकार**, और अन्त में 69 से 92 गाथाओं तक **शुभ-परिणाम अधिकार** है।

द्वितीय '**ज्ञेय-तत्त्व-प्रज्ञापन**', तीन अवान्तर अधिकारों में विभक्त है – 93 से 126 गाथाओं तक **द्रव्य-सामान्य-प्रज्ञापन**, 127 से 144 गाथाओं तक **द्रव्य-विशेष-प्रज्ञापन**, और 145 से 200 गाथाओं तक **ज्ञान-ज्ञेय-विभाग-प्रज्ञापन** नामक अधिकार हैं।

तृतीय '**चरणानुयोग-सूचक-चूलिका**' भी चार अवान्तर अधिकारों में विभक्त है – 201 से 231 गाथाओं तक **आचरण-प्रज्ञापन**, 232 से 244 गाथाओं तक **मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन**, 245 से 270 गाथाओं तक **शुभोपयोग-प्रज्ञापन** एवं 271 से 275 गाथाओं तक **पंचरत्न** नामक अधिकार हैं।

अब हम इस ग्रन्थ के आधार से प्रकृत विषय, शुभोपयोग-शुद्धोपयोग की मिश्र अवस्था (साधक मोक्षमार्गस्थ जीव) का स्वरूप देखते हैं।

आगमनिष्ठ निष्पक्ष सुविज्ञजन, इस पर अपना निर्मल अभिप्राय प्रगट कर, हमें अनुग्रहीत करें कि जिससे जिनागम की रंचमात्र भी अवहेलना न हो, भ्रान्ति का निवारण हो, हम-आप में परस्पर हार्दिक वात्सल्य हो, धर्मियों से गौवत्स-सम प्रीति उत्पन्न हो और 'जैनं जयतु शासनम्' का ध्वज, पंचम काल के अन्त तक लहराता रहे।

हमारे द्वारा किसी भी प्रकार से देव-शास्त्र-गुरु का अवर्णवाद न हो – इस पवित्र भावना के साथ हम सोचें, विचार करें कि यह ग्रन्थराज प्रवचनसार क्या कहता है?

(1) प्रवचनसार गाथा 5

सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसम्प्राप्ति-हेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलंक-विविक्ततया निर्वाण-सम्प्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसम्पद्ये। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यगतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः। एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं सम्प्रतिपन्नः।

अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान सम्पन्न होकर, जिसमें कषायकण विद्यमान होने से जो जीव को पुण्यबन्ध की प्राप्ति का कारण है – ऐसे सरागचारित्र को, क्रम में आ पड़ने पर भी (अर्थात् गुणस्थान-आरोहण के क्रम में बलात् चारित्रमोह के उदय से आ पड़ने पर भी) दूर से ही उल्लंघन करके, जो समस्त कषाय-क्लेशरूपी कलंक से भिन्न होने से निर्वाण-प्राप्ति का कारण है – ऐसे वीतरागचारित्र नामक साम्य को प्राप्त करता हूँ। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की ऐक्यस्वरूप एकाग्रता को मैं प्राप्त करता हूँ। यह इस प्रतिज्ञा का अर्थ है। इस प्रकार तब इन्होंने (श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने साक्षात् मोक्षमार्ग को अंगीकार किया।

(तत्त्वप्रदीपिका)

रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदज्ञानं तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रूचिरूपं सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञानदर्शन-स्वभावं, मठचैत्यालयादि-लक्षण-व्यवहाराश्रमाद्विलक्षणं भावाश्रमरूपं

प्रधानाश्रमं प्राप्य तत्पूर्वकं क्रमायातमपि सरागचारित्रं पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतरागचारित्रमहमाश्रयामीति भावार्थः।

अर्थात् मठ-चैत्यालायादि रूप व्यवहार आश्रम से भिन्न लक्षणवाले, रागादि से भिन्न अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न यह सुखस्वभावी परमात्मा है – ऐसे भेदज्ञान तथा वह सुखस्वभावी आत्मा ही पूर्णतः उपादेय है – ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व; इन लक्षणों वाले ज्ञान-दर्शनस्वभावी भावाश्रमरूप प्रधान आश्रम को प्राप्त कर, उस पूर्वक होने वाला सरागचारित्र क्रमापतित अवश्यम्भावी होने पर भी पुण्यबन्ध का कारण है – ऐसा जान कर, उसे छोड़ कर, शुद्धात्मा में स्थिर अनुभूति स्वरूप वीतरागचारित्र का मैं आश्रय लेता हूँ – यह गाथा का भाव है।

(VmËn`©d¥{Îm)

प्रवचनसार गाथा 6

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम्।

अर्थात् दर्शन-ज्ञान-प्रधान चारित्र से, यदि वह (चारित्र), *वीतराग हो तो* मोक्ष प्राप्त होता है और यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभव-क्लेश रूप बन्ध की प्राप्ति होती है; इसलिए मुमुक्षुओं को **इष्ट फलवाला होने से वीतरागचारित्र उपादेय है और अनिष्ट फलवाला होने से सरागचारित्र हेय है।**

(तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार गाथा 7

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो।।७।।

स्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावात्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थिततात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।

(तत्त्वप्रदीपिका)

अर्थात् स्वरूप में चरण करना, रमना सो चारित्र है; स्वसमय में प्रवृत्ति करना

– ऐसा इसका अर्थ है; यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है, अर्थात् शुद्ध-चैतन्य का प्रकाश करना – यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है और साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार रूप जीव का परिणाम है।

प्रवचनसार गाथा 8

अभेदनयेन ..... धर्मेण परिणताऽऽत्मैव धर्मो मन्तव्य इति। तद्यथा – निजध्रुवशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्ति-परिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते।

अर्थात् अभेदनय से ..... धर्मपर्याय से परिणत आत्मा को ही धर्म मानना चाहिए। वह इस प्रकार है – निजशुद्धात्म-परिणतिरूप निश्चयधर्म तथा पञ्चपरमेष्ठी आदि के प्रति भक्ति-परिणामरूप व्यवहारधर्म कहा गया है। (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार गाथा 11

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोग जुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं।।

अर्थात् धर्म से परिणतस्वरूपवाला आत्मा, यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला हो तो स्वर्ग-सुख को (बन्ध) को प्राप्त करता है।

अतः शुद्धोपयोग उपादेयः, शुभोपयोगो हेयः।

अर्थात् शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है। (तत्त्वप्रदीपिका)

'चारित्तं खलु धम्मो' इति वचनात्। तच्च चारित्रमपहृतसंयमोपेक्षा-संयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति। तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं, तेन निर्वाणं लभते। निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूप-सरागचारित्रेण परिणमति, तदा पूर्वामनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीत-माकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते इति सूत्रार्थः।

अर्थात् 'चारित्र ही वास्तविक धर्म है' – ऐसा वचन होने से वही धर्म, दूसरे शब्दों में चारित्र कहा जाता है और वह चारित्र (1) अपहृतसंयम-उपेक्षासंयम के भेद से अथवा (2) सराग-वीतराग के भेद से अथवा (3) शुभोपयोग-शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

वहाँ जो शुद्ध-सम्प्रयोग शब्द से कहा जानेवाला शुद्धोपयोगस्वरूप वीतरागचारित्र है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग में रहने की शक्ति का अभाव होने पर जब (पूर्वोक्त जीव) शुभोपयोगरूप सरागचारित्र से परिणत होता है तो अनाकुलता लक्षण पारमार्थिक-सुख से विपरीत आकुलता पैदा करनेवाला स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है तथा बाद में परम-समाधिरूप मोक्ष की कारणभूत वीतरागचारित्ररूप सामग्री के सद्भाव में मोक्ष प्राप्त करता है – इस प्रकार यह गाथा का भाव है।

(तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 12

असुहोदएण आदा, कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुःक्खसहस्सेहिं सदा, अभिद्दुदो भमदि अच्चंतं॥

अर्थात् अशुभ उदय से आत्मा, कुमनुष्य, तिर्यंच अथवा नारकी होकर, हजारों दुःखों से सदा पीडित होता हुआ, संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।

ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति।

अर्थात् चारित्र के लेशमात्र का भी अभाव होने से **यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है।**

(तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 13

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धवओगप्पसिद्धाणं॥

अर्थात् शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का (केवली और सिद्धों का सुख – (1) अतिशय (2) आत्मोत्पन्न (3) विषयातीत(अतीन्द्रिय) (4) अनुपम (5) अनन्त (अविनाशी) और (6) अविच्छिन्न (अटूट) होता है।

प्रवचनसार, गाथा 14

सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।।

अर्थात् जिन्होंने (निज शुद्ध आत्मादि) पदार्थों को और सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त है, जो वीतराग अर्थात् रागरहित है और जिन्हें सुख-दुःख समान है – ऐसे श्रमण (मुनिवर) को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

प्रवचनसार, गाथा 69

देवदजदिगुरुपुजासु, चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो, सुहोवओगप्पगो अप्पा।।

अर्थात् देव-गुरु-यति की पूजा में, दान में एवं सुशीलों में और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

जब यह आत्मा, दुख की साधनभूत ऐसी द्वेष रूप तथा इन्द्रिय-विषय की अनुरागरूप अशुभोपयोग भूमिका का उल्लंघन करके देव-गुरु-यति की पूजा, दान, शील और उपवासादिक के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अंगीकार करता है; **तब वह इन्द्रिय-सुख की साधनभूत शुभोपयोग की भूमिका में आरूढ़ कहलाता है।** (तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 70

जुत्तो सुहेण आदा, तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं, लहदि सुहं इन्दियं विविहं।।

अर्थात् **शुभोपयोगयुक्त आत्मा तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर, उतने समय तक विविध इन्द्रिय-सुख प्राप्त करता है।**

प्रवचनसार, गाथा 71

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा, रमंति विसएसु रम्मेसु।।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव के उपदेश से सिद्ध है कि देवों के भी स्वभाव-सिद्ध सुख नहीं है; वे (पंचेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीड़ित होने से रम्य विषयों में रमते हैं।

प्रवचनसार, गाथा 72

णरणारयतिरियसुरा, भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो, उवओगो हवदि जीवाणं।।

अर्थात् मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव, सभी यदि देहोत्पन्न दुःख को अनुभव करते हैं तो जीवों का वह (शुद्धोपयोग से विलक्षण अशुद्ध) उपयोग वास्तव में शुभ और अशुभ – ऐसे दो प्रकार का कैसे हो सकता है? (अर्थात् इस प्रकार दोनों में भेद सिद्ध नहीं होता।)

यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्ति वाले देवादिक और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की आपदा वाले नारकादिक – **यह दोनों स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से (बिना अन्तर के) पंचेन्द्रियात्मक शरीर-संबंधी-दुःख का ही अनुभव करते हैं, तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती।** (तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 77

ण हि मण्णदि जो एवं, णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो।।

अर्थात् इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है – ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ, घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

यों पूर्वोक्त प्रकार से शुभ-अशुभ उपयोग के द्वैत की भाँति और सुख-दुःख के द्वैत की भाँति **परमार्थ से पुण्य-पाप का द्वैत नहीं टिकता, नहीं रहता; क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मत्व (आत्मधर्म का अभाव) अविशेष अर्थात् समान है।**

(तत्त्वप्रदीपिका)

ऐसा होने पर भी जो जीव, उन दोनों में, सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति अहंकारिक अन्तर मानता हुआ, अहमिन्द्र-पदादि सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर, अत्यन्त निर्भररूप से अवलम्बित है; वह जीव वास्तव में चित्तभूमि के उपरक्त होने से (मलिन, विकृत होने से) जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है – ऐसा वर्तता हुआ, संसार-पर्यन्त अर्थात् चिरकाल तक शारीरिक दुःख का ही अनुभव करता है।

प्रवचनसार, गाथा 78

जो जीव शुभ और अशुभभावों के अविशेष दर्शन से (दोनों समान हैं – ऐसी श्रद्धा से) वस्तुस्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता है, स्व और पर – ऐसे दो विभागों में रहने वाली, समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों के प्रति राग और द्वेष को निरवशेष रूप से छोड़ता है; वह जीव, एकान्त से उपयोग-विशुद्ध (सर्वथा शुद्धोपयोगी) होने से जिसने परद्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है, ऐसा वर्तता हुआ, लोहे के गोले में से लोहे के सार का अनुसरण न करनेवाली अग्नि की भाँति प्रचण्ड घन के आघात समान शारीरिक दुःख का क्षय करता है; **इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है – ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः।** (तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 79

चत्ता पावारंभं, समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादि, ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं।।

अर्थात् **पापारम्भ को छोड़कर, शुभ-चारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव, मोहादि को नहीं छोड़ता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।**

अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम्।

अर्थात् इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कस ली है।

(तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 80

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

अर्थात् जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है; वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।

'अथ चत्ता पावारंभं ... इत्यादि सूत्रेण यदुक्तं शुद्धोपयोगाऽभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाऽभावे शुद्धात्मलाभो न भवति, तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति – जो जाणदि अरहंतं........ इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा, पश्चान्निश्चयनयेन

तदेवाऽऽगम-सारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाऽभिमुखरूपेण सविकल्प-स्वसंवेदनज्ञानेन तथैवाऽऽगमभाषयाध:प्रवृत्तकरणाऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणसंज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादाऽऽत्मनि योजयति। तदनन्तरमविकल्पस्वरूपरूपे प्राप्ते यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीयं धवलत्वं चाऽभेदननयेन हार एव, तथा पूर्वोक्तद्रव्य-गुणपर्यायाऽभेदनयेनाऽऽत्मैवेति भावयतो दर्शनमोहाऽन्धकार: प्रलीयते। इति भावार्थ:।

अर्थात् अब 'चत्ता पावारंभ' इत्यादि 79वीं गाथा द्वारा कहा था कि शुद्धोपयोग के अभाव में मोहादि का विनाश नहीं होता तथा मोहादि का विनाश नहीं होने पर शुद्धात्मा का लाभ नहीं होता, उसके लिए ही अब उपाय का विचार करते हैं –

'जो अरहंत को जानता है, ... इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप को पहले कहे हुए अरहंत नामक परमात्मा में जानकर, तदनन्तर निश्चयनय से उसी आगम के सारभूत अध्यात्मभाषा से स्वशुद्धात्मभावना के सन्मुखरूप सविकल्पस्वसंवेदन-ज्ञान से, उसी प्रकार आगमभाषा से अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नामक दर्शनमोह के क्षय में समर्थ परिणाम-विशेष के बल से पश्चात् (अपने ज्ञान को) आत्मा में जोड़ता है।

तदनन्तर निर्विकल्प स्वरूप प्राप्त होने पर, जैसे अभेदनय से पर्यायस्थानीय अनेक मुक्ताफल (मोती) और गुणस्थानीय धवलता (सफेदी) आदि हार ही है; उसी प्रकार अभेदनय से पूर्वोक्त द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा ही है।

इस प्रकार परिणमित होता हुआ (उसका) दर्शनमोहरूप अन्धकार विनाश को प्राप्त होता है – यह भावार्थ है। (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 155

वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण 'उपयोग-विशेष' (अमुक प्रकार का उपयोग) ही है।

प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है, क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी परिणाम है और वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार – ऐसा उभयरूप है।

अब इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध – ऐसे दो भेद किये हैं; उसमें शुद्ध-उपयोग, निरूपराग (निर्विकार) है और अशुद्ध-उपयोग सोपराग (सविकार) है और अशुद्ध-उपयोग, शुभ और अशुभ – ऐसे दो प्रकार का है; क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप – ऐसा दो प्रकार का है। (अर्थात् उपराग = विकार, वह मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप – ऐसा दो प्रकार का है।

(तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 156

जीव को परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है और वह विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभ रूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ, **पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है –ऐसा वह परद्रव्य के संयोग के कारणरूप से काम करता है,** किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है, तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है। (तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 157

'विशिष्ट क्षयोपशम' दशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ-उपराग का ग्रहण किया होने से जो (उपयोग) परम भट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर – ऐसे अरहन्त, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है। (तत्त्वप्रदीपिका)

समीक्षा – 1. यहाँ 'विशिष्ट क्षयोपशमदशा' शब्द का प्रयोग (सराग-सम्यक्त्व एवं सराग-चारित्र) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए, जो कि गाथा 159 की टीका से जाना जा सकता है।

2. समयसार गाथा 74 तथा प्रवचनसार गाथा 255 की तात्पर्यवृत्ति टीका में कथित 'अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के शुभभाव को उपचार से ही शुभोपयोग कहा है, क्योंकि स्वात्मानुभूति रूप निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना (निर्विकल्प आत्मानुभूति रूप शुद्धोपयोग की प्राप्ति बिना) उसका वह शुभभाव, निज-ध्रुव-चिदानन्दात्मा को छोड़कर, भोगाकांक्षा निदानरूप होने से परम्परया भी निर्वाण का कारण नहीं होता, क्योंकि उसके संवर-निर्जरातत्त्व प्रगट नहीं है।

जो ज्ञानी, सम्यक्‌दृष्टि का शुभभावरूप शुभोपयोग होता है, वह साक्षात् पुण्यबन्ध का कारण तो होता ही है और परम्परया नियम से निर्वाण का कारण भी होता है, क्योंकि उसके संवर-निर्जरातत्त्व प्रगट हैं, **जिन्हें सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं हुआ, जो शुभास्रव को संवरतत्त्व मानते-मनवाते हैं, जो एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में मिलाते हैं, जो नौ तत्त्वों को उनके आत्मभूत लक्षणों से नहीं पहचानते हैं, उपचार (व्यवहार) कथन को परमार्थ (निश्चय) स्वरूप मानते -मनवाते हैं तो समझना ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों ने सही देशना ग्रहण नहीं की है; इसीलिए उनका वह शुभभाव पलट कर, अशुभभावरूप हो जाता है, लेकिन शुद्धता को प्राप्त नहीं होता।**

जब देशना ही सही ग्रहण नहीं की हो तो उनके प्रायोग्य-लब्धि पूर्वक करण-लब्धि के परिणामों की प्राप्ति भी कहाँ से हो सकेगी?

कदाचित् कोई जीव, प्रायोग्य-लब्धि तक भी आ जाये, मुक्ति की युक्तिरूप हित की शिक्षा भी ग्रहण कर ले, उसका विचार करने पर 'ऐसे ही है'- ऐसी उस शिक्षा की प्रतीति भी हो जाये, अथवा अन्यथा विचार करने लग जाये और उस शिक्षा का/उपदेश का निर्धार (निर्णय) न करे तो प्रतीति नहीं भी हो – ऐसा नियम है; **अत: इसका उद्यम तो तत्त्व-विचार करना मात्र ही है।**

पाँचवीं करण-लब्धि होने पर सम्यक्त्व होता ही है – ऐसा नियम है। जिसके प्रथम चार लब्धियाँ हुईं हो और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो, उस जीव के ही करण-लब्धि होती है। इसका बुद्धिपूर्वक उद्यम तो इतना ही होता है कि उस तत्त्व-विचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल विशुद्धतर होते जाते हैं। इन परिणामों का तारतम्य, जैसा सर्वज्ञदेव ने जाना है, उसका वर्णन करणानुयोग में है। त्रिकालवर्ती सर्व करणलब्धिवाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण – ये तीन भेद कहे हैं। (देखिए, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६२)

प्रवचनसार, गाथा 158

'विशिष्ट उदयदशा' में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभ उपराग को ग्रहण करने से जो

(उपयोग) परम भट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहंत, सिद्ध और साधु के अतिरिक्त अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है।(तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 159

जो यह परद्रव्य के संयोग के कारणरूप से कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द-तीव्र उदयदशा में रहनेवाले परद्रव्य के अनुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारण से नहीं; इसलिए यह मैं समस्त परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ और इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ, मैं परद्रव्य के अनुसार परिणति के आधीन न होने से, शुभ अथवा अशुभ –ऐसा जो अशुद्धोपयोग, उससे मुक्त होकर मात्र स्वद्रव्य के अनुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है –ऐसा होता हुआ उपयोग के द्वारा आत्मा में ही **सदा निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ**। इस प्रकार मुझे जिसके कारण परद्रव्य का संयोग होता है, उसके विनाश का यह अभ्यास है। (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार गाथा 180

परिणामादो बंधो, परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदेसो, सुहो व असुहो हवदि रागो।।

अर्थात् परिणाम से बन्ध है, (जो) परिणाम राग-द्वेष-मोहयुक्त है, उनमें से मोह और द्वेष अशुभ है और राग शुभ अथवा अशुभ (दोनों प्रकार का) होता है।

प्रथम तो द्रव्यबन्ध, विशिष्ट-परिणाम से होता है, परिणाम की विशिष्टता राग-द्वेष-मोहमयपने के कारण है। वह शुभ और अशुभपने के कारण द्वैत (दो भेद) का अनुसरण करता है; उसमें से मोह-द्वेषमयपने से अशुभपना होता है और रागमयपने से शुभपना तथा अशुभपना दोनों होता है, क्योंकि राग, विशुद्धियुक्त तथा संक्लेशयुक्त होने से दो प्रकार का होता है। (तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 181

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो, दुक्खक्खयकारणं समये।।

अर्थात् पर के प्रति शुभ-परिणाम पुण्य है और अशुभ-परिणाम पाप है – ऐसा कहा है तथा जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है – ऐसा परिणाम, समय में (परमागम में अथवा यथाकाल) दुःख-क्षय का कारण कहा है।

प्रथम तो परिणाम तो दो प्रकार का है – परद्रव्यप्रवृत्त (परद्रव्य के प्रति प्रवर्तमान) और स्वद्रव्यप्रवृत्त; इनमें से परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम (पर के निमित्त से विकारी) होने से विशिष्ट परिणाम है और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम पर के द्वारा उपरक्त न होने से अविशिष्ट परिणाम है; उसमें विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं – शुभपरिणाम और अशुभपरिणाम; उनमें पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभपरिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभपरिणाम पाप है। अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है, इसलिए उसके भेद नहीं हैं। वह (अविशिष्ट परिणाम) यथाकाल संसार-दुःख के हेतुभूत कम-पुद्गल के क्षय का कारण होने से संसार-दुःख का हेतुभूत कर्म-पुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है। (तत्त्वप्रदीपिका)

नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चय -नयो भवत्येव।

तत्राऽशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युतरं ददाति –

वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं, शुभाऽशुभ शुद्धद्रव्याऽवलम्बनमुपयोग-लक्षणं चेति; तेन कारणेनाऽशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकात्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्।

अर्थात् ...... नय की विवक्षा में मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानों में अशुद्धनिश्चयनय होता ही है।

वहाँ अशुद्धनिश्चयनय के बीच शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है? – ऐसा शिष्य द्वारा पूर्वपक्ष (प्रश्न) किये जाने पर उसके प्रति उत्तर देते हैं –

प्रथम तो वस्तु की एकदेश परीक्षा, नय का लक्षण है और शुभ, अशुभ या शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन, उपयोग का लक्षण है; इस प्रकार अशुद्धनिश्चय के बीच में भी शुद्धात्मा का अवलम्बन होने से, शुद्ध का साधक होने से शुद्धोपयोग

परिणाम प्राप्त होता है – ऐसा नय और उपयोग का लक्षण यथासम्भव सब जगह जानना चाहिए।...' (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 181–182

.... अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः ।

.... अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, स च पारिणामिकः सकलावऽऽरणरहितत्वेनाऽखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः ।

.... अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः स च अनाद्यनन्तत्वेना विनश्वरः।

.... तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मात्। ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति।

.... एवं द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति ...।

अर्थात् यहाँ रागादि विकल्पों की उपाधिरहित समाधिलक्षण 'शुद्धोपयोग' मुक्ति का कारण कहा गया है।

.... यह शुद्धोपयोग, एकदेश आवरण रहित होने से क्षायोपशमिक खण्डज्ञान की प्रगटतारूप है और वह पारिणामिक भाव, सम्पूर्ण आवरणों से रहित होने के कारण अखण्डज्ञान की प्रगटतारूप है।

.... यह सादि-सान्त होने से नश्वर है और वह अनादि-अनन्त होने से अविनश्वर है।

.... इससे ही ज्ञात होता है कि शुद्धपारिणामिक भाव ध्येयरूप है, ध्यानभावनारूप नहीं है। वह ध्यानभावनारूप क्यों नहीं है? – ध्यान के विनाशशील होने से वह ध्यानभावनारूप नहीं है।

इसप्रकार **द्रव्य बन्ध का कारण होने से मिथ्यात्व-रागादि विकल्परूप भावबन्ध ही निश्चय से बन्ध है। .....** (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 183

'.....ततः स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदन ज्ञानी जीवस्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति।......'

अर्थात् इससे यह निश्चित हुआ कि स्व-पर-भेदविज्ञान के बल से स्वसंवेदनज्ञानी जीव, स्व-द्रव्य में रति-प्रवृत्ति और परद्रव्य में निवृत्ति करता है। (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 216

अशुद्धोपयोग हि छेदः शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्; तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा।

अर्थात् अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है; उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन (हनन) होता है; अतः वही हिंसा है। (तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 217

अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेद, परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः।

अर्थात् अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद है, परप्राणों का व्यपरोप (विच्छेद / घात) ही बहिरंग छेद है। (तत्त्वप्रदीपिका)

समीक्षा – वस्तुतः आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता, पदार्थों के निश्चय बिना संशय रहित श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तथा पर-कर्तृत्व-अभिलाषा-जनित क्षोभ और पर-भोक्तृत्व-अभिलाषा-जनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता रूप धर्म्यध्यान भी नहीं होता और एकाग्रता के बिना निज आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप शुद्धात्म-प्रवृत्ति नहीं होती और शुद्धात्म-प्रवृत्ति न होने से सच्चा मुनिपना/सच्चा मोक्षमार्ग भी नहीं होता; इसलिए 'आगम-चेट्ठा तदो चेट्ठा' (प्रवचनसार गाथा 232) **अर्थात् शब्द-ब्रह्मरूप परमागम में प्रवीणता प्राप्त करना, प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु का परम कर्तव्य है।**

आगम की पर्युपासना से रहित इस जीव को आगमोपदेश पूर्वक स्वानुभव न होने से 'यह जो अमूर्तिक आत्मा है, सो मैं हूँ और जो एकक्षेत्रावगाही शरीर है, वह पर है, इसी प्रकार से यह जो उपयोग (ज्ञानानुभव) है, सो मैं हूँ और ये उपयोग-मिश्रित मोह-राग-द्वेष आदि भाव हैं, सो पर हैं।' इस प्रकार स्व-पर का भेदज्ञान न होने से और ऐसा स्वानुभवरूप अभेदज्ञान न होने से 'मैं एक अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन कारणपरमात्मा हूँ, शाश्वत चैतन्यद्रव्य हूँ' – ऐसा श्रद्धान उदित नहीं होता।

हमारे मुनिराज भगवन्त, **'आगम-चक्खू साहू'** (प्रवचनसार, गाथा 234) **अर्थात् साधु आगम-चक्षु होते हैं, उस आगमरूप चक्षु से वे स्व-पर का विभाग करके महामोह सुभट को जीतकर, निज-ध्रुव-चिदानन्दात्मा को पाकर सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं, ज्ञेयनिष्ठ नहीं होते। उस आगमरूप चक्षु से उन्हें सब-कुछ दिखायी देता है; इसीलिए आगमज्ञान, तत्पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान और तदुभयपूर्वक संयतत्व की युगपतता को ही साक्षात् मोक्षमार्गपना होने का नियम है।**

प्रवचनसार, गाथा 236

यदि निर्दोषिनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं नास्ति, तर्हि परमागमबलेन विशदैकज्ञानमात्मानं जानन्नपि सम्यग्दृष्टिर्न भवति, ज्ञानी च न भवति, तद्द्वयाऽभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयाऽभिलाषषड्जीववधव्यावृत्तोऽपि संयतो न भवति। ततः स्थितमेतत्-परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व-त्रयमेव मुक्तिकारणमिति।

अर्थात् यदि दोषरहित अपना परमात्मा ही उपादेय है – ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व नहीं है तो परमागम के बल से स्पष्ट एक ज्ञानरूप आत्मा को जानता हुआ भी सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञानी भी नहीं है। इन दोनों का अभाव होने पर, पाँचों इन्द्रियों के विषयों की इच्छा और छह काय के जीवघात से व्यावृत्त या निवृत्त होने पर भी संयत नहीं है; इससे निश्चित हुआ कि परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना – इन तीनों का युगपतपना ही मुक्ति का कारण है। (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 238

अथ परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्त्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मेलापके -ऽपि यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्पसमाधिलक्षणमाऽऽत्मज्ञानं, निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति –

जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्सकोडिहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण।।

...ततो ज्ञायते परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां सद्भावेऽप्यभेदरत्नत्रयरूपस्य स्वसंवेदन-ज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति।

अर्थात् अब परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वरूप भेदरत्नत्रय का युगपत्पना होने पर भी जो अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्प समाधिस्वरूप लीनता लक्षण आत्मज्ञान है, वही निश्चय से मुक्ति का कारण है; ऐसा प्रतिपादन करते हैं –

'जो कर्म, अज्ञानी (बाल-तपादि से) लक्ष-कोटि भवों में नष्ट करता है, वे कर्म, तीन प्रकार से गुप्त ज्ञानी (त्रिगुप्तिधारक साधुपरमेष्ठी) उच्छ्‌वास-मात्र में नष्ट कर देता है।'

... इससे ज्ञात होता है कि परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वरूप भेदरत्नत्रय का सद्भाव होने पर भी, अभेद रत्नत्रयरूप स्वसंवेदन-ज्ञान की ही प्रधानता है।

(तत्त्वप्रदीपिका)

प्रवचनसार, गाथा 239

अथाऽऽत्मज्ञानशून्यस्य सर्वाऽऽगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्यनुशास्ति। (तत्त्वप्रदीपिका)

अर्थात् अब ऐसा उपदेश करते हैं कि **आत्मज्ञान-शून्य के सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर है अर्थात् वे मिल कर भी कुछ नहीं कर सकते।**

प्रवचनसार, गाथा 245

समणा सुद्धुवजुत्ता, सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता, अणासवा सासवा सेसा।।

अर्थात् शास्त्र में कहा है कि श्रमण शुद्धोपयोगी होते हैं, तथा शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं; उनमें जो **शुद्धोपयोगी हैं, वे निरास्रव हैं, शेष सास्रव हैं अर्थात् जो शुभोपयोगी हैं, वे आस्रव-सहित हैं।**

जो वास्तव में श्रामण्य-परिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय-कण के जीवित (विद्यमान) होने से समस्त परद्रव्यों से निवृत्तिरूप से प्रवर्तमान, ऐसी जो सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञान-स्वभाव आत्मतत्त्व में परिणतिरूप शुद्धोपयोग-भूमिका, उसमें आरोहण करने को असमर्थ हैं; वे (शुभोपयोगी) जीव, जो कि शुद्धोपयोग-भूमिका के उपकण्ठ निवास कर रहे हैं और कषाय ने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है तथा जो अत्यन्त उत्कण्ठित (आतुर) मनवाले हैं, वे श्रमण हैं या नहीं, यह यहाँ कहा जा रहा है –

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं।।

इसप्रकार (भगवान कुन्दकुन्द आचार्य ने इसी ग्रन्थ की 11वीं गाथा में) स्वयं ही निरूपण किया है।

इसलिए शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थसमवाय है; अतः शुभोपयोगी **भी, उनके धर्म का सद्भाव होने से श्रमण हैं, किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के साथ/समान कोटि के नहीं हैं**, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों को निरस्त करने से निरास्रव ही हैं और ये शुभोपयोगी तो कषाय-कण नष्ट नहीं करने से सास्रव ही हैं और ऐसा होने से ही शुद्धोपयागियों के साथ इनको नहीं लिया जाता, मात्र पीछे से अर्थात् गौणरूप से लिया जाता है। (तत्त्वप्रदीपिका)

.... **तथा शुद्धोपयोगिनां मुख्यत्वं, शुभोपयोगिनां तु चकार-समुच्चय-व्याख्यानेन गौणत्वम्। कस्माद् गौणत्वं जातमिति चेत्।** ..... **तेष्वपि मध्ये शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवाः, शेषाः सास्रवा इति यतः कारणात्; तद्यथा –**

निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तऽशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वा-च्छुद्धोपयोगिनो निरास्रवा एव,

शेषाः शुभोपयोगिनो मिथ्यात्व-विषय-कषायरूपाऽशुभास्रवनिरोधेऽपि पुण्यास्रवसहिता इति भावः। (तात्पर्यवृत्ति)

अर्थात् जैसे, निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी सिद्ध-जीव ही जीव कहे जाते हैं और व्यवहार से चतुर्गति-परिणत अशुद्ध-जीव, जीव हैं; उसी प्रकार शुद्धोपयोगियों की मुख्यता तथा चकार द्वारा समुच्चयव्याख्यान होने से शुभोपयोगियों की गौणता है।

गौणता कैसे उत्पन्न हुई? ऐसा यदि प्रश्न हो तो कहते हैं –

उनमें भी शुद्धोपयोग-युक्त अनास्रव है, शेष सास्रव हैं; इस कारण उनकी गौणता है। वह इस प्रकार है – अपने शुद्धात्मा के बल से, सम्पूर्ण शुभ-अशुभ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प रहित होने के कारण शुद्धोपयोगी निरास्रव ही हैं।

शेष शुभोपयोगी मिथ्यात्व, विषय-कषायरूप अशुभास्रव का निरोध होने पर भी पुण्यास्रव सहित हैं – ऐसा भावार्थ है।

प्रवचनसार, गाथा 248

ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयागिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायते? इति।

परिहारमाह – युक्तमुक्तं भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते, ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति, तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते, तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात्? बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवन-नि-बवनवदिति।

अर्थात् यहाँ कोई **शंका** करता है कि शुभोपयोगियों के भी, किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना दिखायी देती है, शुद्धोपयागियों के भी किसी समय शुभोपयोग भावना देखी जाती है, **श्रावकों के भी सामायिकादि के समय शुद्धभावना देखी जाती है**, तब उनका विशेष भेद कैसे ज्ञात होता है?

आचार्य उसका **समाधान** करते हुए कहते हैं -- आपका कहना उचित है, परन्तु **जो अधिकतर शुभोपयोगरूप आचरण करते हैं, वे यद्यपि किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना करते हैं, तो भी शुभोपयोगी ही कहलाते हैं** तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी किसी समय शुभोपयोगरूप वर्तते हैं, तो भी शुद्धोपयोगी ही हैं। (इन दोनों प्रकार के उपयोगों रूप प्रवृत्ति होने पर भी) ऐसा क्यों है? बहुपद अर्थात् **बहुलता की प्रधानता होने के कारण, आम्रवना-नीमवन आदि के समान,** दोनों रूप प्रवृत्ति होने पर भी, अधिकता की अपेक्षा उनमें अन्तर है।

(तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 251

जोण्हाणं णिरवेक्खं, सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं, कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।।

अर्थात् यद्यपि अल्प लेप होता है, तथापि साकार-अनाकार चर्यायुक्त (अर्थात् ज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान वृत्तिवाले) अथवा सागार-अनगार चर्यावाले

श्रावक व मुनियों के आचरण से युक्त जैनों का अनुकम्पा से निरपेक्षतया उपकार करो।

प्रवचनसार, गाथा 255

रागो पसत्थभूदो, वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह, बीजाणिव सस्सकालम्हि ।।

अर्थात् जैसे, इस जगत् में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज धान्य-काल में विपरीतरूप से फलते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग, वस्तुभेद (पात्रभेद) से विपरीतरूप से फलता है।

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति) यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं, तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात् कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात्।

अर्थात् (अब ऐसा सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोग में कारण की विपरीतता से फल की विरीतता होती है।) जैसे, बीज, ज्यों के त्यों एक से होने पर भी भूमि की विपरीतता से फल-निष्पत्ति की विपरीतता होती है।(अर्थात् अच्छी भूमि में उसी बीज का अच्छा अन्न (फल) उत्पन्न होता है और खराब भूमि में वही खराब हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता।) उसी प्रकार प्रशास्तरागस्वरूप शुभोपयोग, ज्यों का त्यों होने पर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है, क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यंभावी (अनिवार्य) है।

(तत्त्वप्रदीपिका)

यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेण तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति, तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूत-वस्तुविशेषेण भिन्न-भिन्न फलं ददाति। तेन किं सिद्धम्? यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकशुभोपयोगो भवति, तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्ध भवति, परम्परया निर्वाणं च, नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव।

अर्थात् जैसे जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट भूमि-भेद से, वे ही बीज भिन्न-भिन्न फल देते हैं; उसी प्रकार बीज-स्थानीय वही शुभोपयोग, भूमिस्थानीय पात्रभूत

वस्तु-विशेष से भिन्न-भिन्न फल देता है। उससे क्या सिद्ध होता है? जब पूर्वगाथा कथित न्याय से **सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है और परम्परया मोक्ष होता है। यदि वह वैसा (सम्यक्त्व के साथ) नहीं होता है तो मात्र पुण्यबन्ध ही होता है।** (तात्पर्यवृत्ति)

प्रवचनसार, गाथा 256

अथकारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीतं भवतीति तमेवार्थं दृढ़यति। ..... तथाहि – ये केचन निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति, पुण्यमेव मुक्ति-कारणं भणन्ति, ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते, न च गणधरदेवादयः। ते छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि *छद्मस्थविहितवस्तूनि* भण्यन्ते। तत्पात्रसंसर्गेण यद्व्रतनियमाध्ययनदानादिकं करोति, तदपि शुद्धात्मभावनानुकूलं न भवति, ततः कारणान्मोक्षं न लभते। सुदेवमनुष्यत्वं लभत इत्यर्थः।

अर्थात् अब, कारण की विपरीतता से फल भी विपरीत होता है – ऐसे उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं। ..... वह इस प्रकार – **जो कोई निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं, पुण्य को ही मुक्ति का कारण कहते हैं, यहाँ वे छद्मस्थ शब्द से ग्रहण किये गये हैं, गणधरदेवादि नहीं।**

शुद्धात्मा के उपदेश से रहित, उन छद्मस्थ अज्ञानियों से जो दीक्षित हैं, वे 'छद्मस्थ-विहित (व्यवस्थापित) वस्तुएँ' कहलाती हैं। उन पात्रों के संसर्ग से जो व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि करते हैं, वे भी शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल नहीं है। उस कारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं। सुदेव, सुमनुष्यत्व आदि प्राप्त करते हैं – ऐसा अर्थ है।' (तात्पर्यवृत्ति)

समीक्षा – आगे, कारण-विपरीतता से फल-विपरीतता दर्शाते हुए, आचार्यदेव और भी कहते हैं कि 'सम्यक्त्व और व्रतरहित पात्रों में भक्ति (श्रद्धा) रखनेवाले जीव, कुदेव, कुमनुष्य होते हैं तथा **वे ऐसी श्रद्धा भी करवाते हैं कि विपरीतता के कारण अविपरीत-फल की सिद्धि नहीं होती। अविपरीत-फल की प्राप्ति तो अविपरीत-कारण से ही होती है और वह अविपरीत-कारणता तो एक मात्र शुद्धात्म-ज्ञानी, विषय-कषाय से अति दूर, शास्त्र-मर्मज्ञ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र**

की ऐक्यतास्वरूप मोक्षमार्ग पर आरूढ़ सर्वारम्भ-परिग्रह से रहित, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रावन्त मुनिराज भगवन्त में ही होती है, उनकी ही देशना, देशना होती है।

इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने उक्त गाथाओं में तथा उनकी टीकाओं में आचार्यद्वय – श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव एवं श्रीमद् जयसेनाचार्यदेव ने केवली-श्रुतकेवलियों के रचनानुसार परम्परा से प्राप्त जिनागम को (सच्चे मुक्तिमार्ग को) लिपिबद्ध कर, सदियों-सदियों के लिए अक्षुण्ण कर दिया है; इसीलिए मंगलाचरण में भगवान महावीरस्वामी एवं उनके प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी के तत्काल बाद तीसरे स्थान पर भगवत् श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव का और मंगलमय जैनधर्म का स्मरण किया गया है। ऐसे उत्तम पात्र तपोधन मुनिराज का प्रकारान्तर से 'उपयोगापेक्षा' लक्षण, **प्रवचनसार, गाथा 260** में कहा है –

प्रवचनसार, गाथा 260

असुभोवयोगरहिदा, सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं, तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।।

अर्थात् जो अशुभोपयोग रहित वर्तते हुए, शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोग से युक्त होते हैं; वे श्रमण, लोगों को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिवान जीव, प्रशस्त पुण्य को प्राप्त करता है।

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोग-वियुक्ताः सन्तः सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्तः प्रशस्तराग विपाकात् कदाचिच्छुभोपयुक्तः, स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति; तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति, परे च पुण्यभाजः।

अर्थात् यथोक्त लक्षणवाले श्रमण ही मोह (मिथ्यात्व), द्वेष और अप्रशस्तराग का उच्छेद करके अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए, समस्त कषायोदय के विच्छेद से कदाचित् शुद्धोपयुक्त और प्रशस्त राग के विपाक से कदाचित् शुभोपयोगयुक्त होते हैं; वे स्वयं मोक्षायतन (मोक्ष के स्थान) होने से लोक को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिभाव से जिनके प्रशस्तभाव वर्तता है – ऐसे उत्कृष्ट अन्य जीव भी पुण्य के भागी (पुण्यशाली) होते हैं। (तत्त्वप्रदीपिका)

अथ तेषामेव पात्रभूततपोधननां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति, शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणत पुरुषाः पात्रं भवन्तीति।

तद्यथा – निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाऽशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाऽशुभराग रहितकाले सरागचारित्रलक्षण-शुभोपयोगयुक्तः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते।

अर्थात् अब उन्हीं पात्रभूत मुनिराजों का दूसरे रूप से लक्षण स्पष्ट करते हैं- शुद्धोपयोग एवं शुभोपयोगपरिणत पुरुष पात्र हैं।

वह इसप्रकार – विकल्परहित समाधिस्वरूप स्थिरता के बल से, कभी शुभ-अशुभ दोनों उपयोगों से रहित होते हुए वीतरागचारित्र-लक्षण शुद्धोपयोग से सहित तथा कभी मोह (मिथ्यात्व), द्वेष और अशुभराग से रहित होते हुए **सरागचारित्र-लक्षण शुभोपयोग से सहित होते हुए भव्य जीवों को तारते हैं और उनके प्रति भक्तिवाले भव्यवर-पुण्डरीक (भव्यों में श्रेष्ठ) भक्तजन, प्रशस्त फलभूत स्वर्ग प्राप्त करते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं** – ऐसा भाव है। (तात्पर्यवृत्ति)

समीक्षा – वस्तुतः उक्त दोनों टीकाओं में 'क्षायोपशमिक चारित्र' क्या चीज है? इसका अत्यन्त स्पष्टरूप से विवेचन किया गया है।

छठवें-सातवें गुणस्थानों में झूलनेवाले मुनिराजों के अशुभोपयोग तो होता ही नहीं। शेष दो शुभ व शुद्ध उपयोगों में से एक काल में (एक-एक अन्तर्मुहूर्त में) कोई एक उपयोग ही होता है। शुभोपयोग वस्तुतः प्रशस्त कषाय/राग के विपाक का फल होने से सास्रव और शुद्धोपयोग निरास्रवभाव है।

सर्वघाति-स्पर्द्धकों के अनुदय से शुद्धता/शुद्धपरिणतिरूप अंश तथा देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से अशुद्धता/अशुद्धपरिणतिरूप अंश – ऐसा एक मिश्रभावरूप चारित्र का परिणाम (पर्याय) होता है – यह बात हस्तामलकवत् स्पष्ट है।

इसी प्रकार शुद्धतारूप अंश से संवर-निर्जरा तथा अशुद्धतारूप अंश से आस्रव-बन्ध होता है।

प्रवचनसार, गाथा 271-275 (पञ्चरत्न की गाथाएँ)

प्रवचनसार ग्रन्थ की अन्तिम पाँच गाथाएँ, जो कि पञ्चरत्न की गाथाएँ कहलाती हैं, वे भी यहाँ दृष्टव्य हैं; जिनमें संसारतत्त्व (अज्ञानी श्रमणाभासरूप द्रव्यलिंगी), मोक्षतत्त्व (पूर्णज्ञानी प्रशान्तात्मा अरहन्त अवस्था में स्थित भावलिंगी श्रमण) एवं मोक्षोपाय रूप साधनतत्त्व (शुद्धोपयोगी मुनिराज) का वर्णन कर, सर्व मनोरथों के स्थानभूत सिद्ध अवस्था का अभिनन्दन कर, शिष्यजनों को शास्त्र-पाठ के लाभ से जोड़ते हुए शास्त्र समाप्त किया है।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस देश में परमपूज्य कुन्दकन्दाचार्यदेव ने इस पंचमकाल में तीर्थंकरतुल्य काम किया है; उनके एक हजार वर्ष बाद अर्थात् आज से एक हजार वर्ष पूर्व प. पू. अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उनके गणधरतुल्य काम किया है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की वस्तु-निष्ठ कथन-पद्धति अलौकिक है। उनके द्वारा रचित मूल गाथा-सूत्रों का गम्भीर रहस्य, श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका द्वारा सरल, सुगम एवं स्पष्ट किया है, अकेला अमृत बहाया है। राग-कषाय का स्वाद, एकान्त दुःखरूप तथा स्वरूप-संवेदन से प्राप्त ज्ञान का स्वाद एकान्त सुखरूप दर्शाकर, निकट भव्य जीवों को इस निकृष्ट कलिकाल में दिव्यध्वनिस्वरूप उत्कृष्ट वचनामृत का पान कराया है।

उनके द्वारा लिखे गये तीन परमागमों – समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय की टीकाओं में वस्तुनिष्ठ विज्ञानरूप अध्यात्म एवं अज्ञानी-ज्ञानी की मान्यतारूप भेद-कथन ही मुख्य रहा है।

जबकि उनके दो/तीन सौ वर्ष बाद आज से आठ/नौ सौ वर्ष पूर्व प. पू. जयसेनाचार्यदेव ने उन्हीं की टीकाओं का अनुसरण करते हुए उक्त तीन ग्रन्थों की ही सरल, सुबोध संस्कृत भाषा में आगम-अध्यात्म का सुमेल दर्शानेवाली गुणस्थानों की विवेचना सहित मार्मिक टीकाएँ लिखी हैं।

कविवर वृन्दावनजी ने तो यहाँ तक कहा है –

शुद्धि-बुद्धि-वृद्धि-दा, प्रसिद्धि-रिद्धि-सिद्धि-दा।
हुए हैं, न होहिंगे, मुनिंद कुन्दकुन्द से।।

वस्तुतः प. पू. श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव के उत्तरवर्ती सभी आचार्य भगवन्तों ने उनका ही अनुसरण करते हुए अनेक विभिन्न ग्रन्थों की रचना की है, उनमें कहीं भी पूर्वापर-विरोध नहीं दिखायी देता है; किन्तु आज कतिपय जैनाभास/श्रमणाभास उन पूर्वाचार्यों के हार्द को – मर्म को सही रूप से हृदयंगम न कर सकने के कारण *पूर्वापर-विरोध-सहित रचनाएँ कर रहे हैं, उपदेश दे रहे हैं* – ***अहो ! हन्त! महाश्चर्य, जले वह्नि-समुद्भवः।***

आज से ढ़ाई सौ वर्ष पूर्व आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने लगता है कि इस स्थिति का पूर्वाभास कर लिया था कि भविष्य में धार्मिक, सामाजिक स्थिति क्या होगी ? और इसलिए उन्होंने अपनी सातिशय प्रज्ञा के बल से सद्गृहस्थ होते हुए भी लगभग उपलब्ध सर्व आगम-अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय-चिन्तन-मनन के बल से उसके दोहन से प्राप्त जिनागम के सार को हृदयंगम कर **'मोक्षमार्ग प्रकाशक'** नामक एक ऐसी कालजयी रचना कर दी है कि जिसके आधार से इस पंचम काल के अन्त तक सच्चे मुक्ति के मार्ग की विरल, किन्तु अविच्छिन्न धारा बहती रहेगी।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, चाहे गृहस्थ हो या मुनि हो, उन सब की वाणी पूर्वापर-विरोध-रहित ही होती है, क्योंकि वह स्वानुभूति-प्रसूत होती है, जिसे यह बात मान्य नहीं है, समझो, उसकी होनहार अभी अच्छी नहीं है।

सम्यग्ज्ञानियों का सदैव एकमत होता है, कदाचित् केवली-कथित करणानुयोग के कोई एकाध कथन में मत-भिन्नता हो सकती है, किन्तु अभिप्राय में रंचमात्र भूल नहीं होती। जबकि एक मिथ्याज्ञानी के स्वयं के कथनों में पूर्वापर-विरोध सहित अत्यन्त मत-भिन्नता पायी जाती है।

अतः इस दुःखद पंचम काल में श्रोता को वक्ता की पहिचान करना चाहिए, अन्यथा जैसे अनादि काल से धर्म के नाम पर यह जीव ठगाता आया है, वैसे ही इस दुर्लभ नर-पर्याय को भी यूँ ही तथाकथित धर्म के नाम पर खोकर चला जाएगा; तदर्थ स्वयं चारों अनुयोगों का स्वाध्याय आगम-निष्ठ होकर करना चाहिए, व्यक्ति-निष्ठ होकर नहीं।

वस्तुतः आत्मज्ञानी को ही सच्चा वक्तापना शोभता है, क्योंकि अध्यात्म-

रसमय सच्चे जिनधर्म का स्वरूप वही खोल (बता) सकता है। बिना स्वरूपानुभव रूप निश्चय सम्यग्दर्शन के कोई भी जिनधर्म का मर्मज्ञ-तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने **(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ.१६)** 'सच्चा वक्ता कौन और किसके मुख से शास्त्र सुनना ?'– इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है, जो निम्न प्रकार से है –

'चौदह विद्याओं में भी अध्यात्म-विद्या प्रधान कही है; इसलिए जो अध्यात्म-रस का रसिया वक्ता है, उसे जिनधर्म के रहस्य का वक्ता जानना। पुनश्च, जो बुद्धि-ऋद्धि के धारक हैं तथा अवधि-मनःपर्यय या केवलज्ञान के धनी वक्ता हैं, उन्हें महान वक्ता जानना। ऐसे वक्ताओं के विशेष गुण जानना। **सो इन विशेष गुणों के धारी वक्ता का संयोग मिले तो बहुत भला ही है और न मिले तो श्रद्धानादि गुणों के धारी वक्ताओं के मुख से ही शास्त्र सुनना।**

इस प्रकार के गुणों के धारक मुनि अथवा श्रावक, उनके मुख से तो शास्त्र सुनना योग्य है और पद्धति-बुद्धि से अथवा शास्त्र सुनने के लोभ से श्रद्धानादि गुणरहित पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र सुनना उचित नहीं है।

कहा भी है –

तं जिण-आणपरेण य, धम्मो सोयव्व सुगुरु-पासम्मि।
अह उचियो सद्धाओ, तस्सुवएसस्स कहगाओ।।

अर्थात् जो जिन आज्ञा मानने में सावधान है, उसे निर्ग्रन्थ सुगुरु ही के निकट धर्म सुनना योग्य है, अथवा उन सुगुरु ही के उपदेश को कहनेवाला उचित श्रद्धानी श्रावक, उससे धर्म सुनना योग्य है।

ऐसा जो वक्ता धर्मबुद्धि से उपदेशदाता हो, वही अपना तथा अन्य जीवों का भला करता है और जो कषाय-बुद्धि से उपदेश देता है, वह अपना तथा अन्य जीवों को बुरा करता है – ऐसा जानना चाहिए।

शिवाकांक्षी

– **ब्र. हेमचन्द्र जैन 'हेम'** (भोपाल)

*****

सप्तम चर्चा

शुभोपयोग से पुण्यबन्ध चर्चा

जब सम्यग्दृष्टि जीव, एकदेश रत्नत्रय धारण करता है, देशव्रती हो जाता है; तब उसे जो कर्मबन्ध होता है वह उसके जो मन्दरागरूप कषाय है, उससे होता है, न कि रत्नत्रयरूप वीतरागांश से।

इस बात का प्रमाण पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 211 से 222 में है। असमग्र रत्नत्रय की अवस्था में भी शुभभाव के प्रादुर्भाव से पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है, लेकिन वह मिथ्यादृष्टि की तरह संसार-वृद्धि का कारण नहीं कहा है, किन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है। निर्ग्रन्थ अवस्था धारण कर लेने पर अर्थात् सकल-संयमी हो जाने पर तो वह रागांश घटते-घटते पूर्णतः समाप्त हो जाता है और वीतरागांश दूज की चन्द्रमा की तरह बढ़ते-बढ़ते एक दिन पूर्णता को प्राप्त हो पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह पूर्ण हो जाता है, तब वहाँ बन्ध का कोई कारण न रहने से पूर्ण अबन्ध अवस्था प्रगट हो जाती है।

शंका – सम्यग्दर्शन से तीर्थंकर-प्रकृति, देवायु आदि पुण्य-प्रकृतियों का तथा चारित्र से आहारक-प्रकृति का बन्ध होता है या नहीं?

समाधान – पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 217 से 222 के आधार से इस प्रश्न का समाधान खोजा जा सकता है –

सम्यक्त्व-चारित्राभ्यां, तीर्थंकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टाः समये, न नयविदां सोऽपि दोषाय।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से तीर्थंकर-प्रकृति और आहारक-प्रकृति का बन्ध होता है – ऐसा जो जिनागम में उपदेश है, उसमें भी नय-विवक्षा को जाननेवाले को कुछ दोष (विरोध) नहीं दिखायी देता है, नहीं जान पड़ता है।

विशेषार्थ यह है कि तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध, चतुर्थ गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों से होना तथा आहारक-

प्रकृति का बन्ध सम्यक्चारित्र से होना, जिनागम में कहा ही है तो भी नय-विभाग के ज्ञाता, इस कथन को अविरूद्ध समझते हैं, क्योंकि **अभूतार्थ व्यवहारनय की अपेक्षा से ही सम्यक्त्व व चारित्र को इन प्रकृतियों का बन्ध करनेवाला कहा है,** परन्तु भूतार्थ निश्चयनय की अपेक्षा से सम्यक्त्व व चारित्र कभी भी बन्ध के निमित्त-कर्ता नहीं होते।

बन्ध के कर्ता तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायभाव ही हैं, योग(आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्द) तो प्रकृति-प्रदेशबन्ध का कारण होता है, जिससे अकषायी जीवों में ग्यारहवें-बारहवें-तेरहवें गुणस्थानों में मात्र योग से ईर्यापथ-आस्रव होता है। यदि सम्यक्त्व, चारित्र और शुद्धोपयोग भी बन्ध के कारण माने जायेंगे तो फिर उक्त तीन गुणस्थानों में भी उक्त पुण्य-प्रकृतियों का बन्ध (स्थिति-अनुभाग सहित) मानना पड़ेगा, जो आगम-विरुद्ध होगा।

यही बात आचार्यदेव अगले श्लोक में कह रहे हैं –

सति सम्यक्त्व-चारित्रे, तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योग-कषायौ नासति, तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्।।

अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र के होने पर ही तीर्थंकर और आहारक-प्रकृति के बन्ध करनेवाले योग और कषाय होते हैं, और उनके नहीं होने पर नहीं होते हैं अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र के बिना बन्ध के कर्ता, योग और कषाय नहीं होते; ध्यान रहे कि वे सम्यक्त्व और चारित्र, इस बन्ध में उदासीन होते हैं।

भावार्थ यह है कि सम्यक्त्व व चारित्र, उक्त प्रकृतियों के बन्ध के न तो कर्ता ही हैं और न अकर्ता ही, उदासीन हैं। जैसे, महामुनियों के समीपवर्ती जाति-विरोधी जीव, अपना-अपना वैरभाव छोड़ देते हैं, परन्तु वे मुनिराज, उन जीवों के इस वैरभाव-त्यागरूप कार्य के न तो कर्ता ही हैं और न अकर्ता हैं। वे कर्ता तो इस कारण नहीं हैं कि वे योगारूढ़ उदासीन-वृत्ति के धारक बाह्य कार्यों से पराङ्मुख हैं और अकर्ता इस कारण नहीं हैं कि यदि वे न होते तो उक्त जीव, वैर-विरोध के त्यागी भी नहीं होते; अतएव वे कर्ता-अकर्ता न होकर उदासीन हैं।

समीक्षा – इसी प्रकार तीर्थंकर एवं आहारक-प्रकृति-बन्धरूप कार्य में सम्यक्त्व-चारित्र को जानना चाहिए। वस्तुतः इन प्रकृतियों का बन्ध, सराग-सम्यक्त्व अर्थात् सराग-चारित्र, जो शुभरागरूप ही हैं, उनके निमित्त से ही होता है।

निश्चय-सम्यक्त्व एवं वीतरागांशरूप निश्चय-चारित्र, कदापि बन्ध के कारण नहीं होते हैं। वे तो संवर-निर्जरा के ही कारण होते हैं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – तीनों प्रकार के सम्यक्त्व परमार्थतः निश्चय-सम्यक्त्व ही हैं, एकरूप (तत्त्वों की याथातथ्य-प्रतिपत्तिरूप) हैं। औपशमिक व क्षायोपशमिक, सादि-सान्त होने से सराग भी कहे जाते हैं, वस्तुतः हैं नहीं। क्षायिक-सम्यक्त्व, सादि-अनन्तकाल तक टिकनेवाला होने से वीतराग-सम्यक्त्व कहा जाता है। सराग-चारित्र के काल में ये तीनों सम्यक्त्व, सराग नाम पाते हैं और पूर्ण वीतराग-चारित्र के काल में इनको वीतराग नाम दिया जाता है। क्षायिक-सम्यक्त्व, अरिहन्त भगवन्तों की नौ लब्धियों में प्रथम लब्धि है और उसकी प्राप्ति चतुर्थादि सप्तमान्त गुणस्थानों में क्षायोपशमिक (कृतकृत्यवेदक) सम्यक्त्व से होती है। सराग-सम्यग्दर्शन को ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन एवं सराग-चारित्र को ही व्यवहार-चारित्र संज्ञा भी है।

महामुनियों के देवायु आदि प्रकृतियों का बन्ध किस प्रकार होता है, इसे आचार्यदेव स्वयं निम्न शंका-समाधानों द्वारा सिद्ध करते हैं –

ननु कथमेवं सिद्ध्यति, देवायुः-प्रभृति सत्प्रकृति-बन्धः।
सकल-जन-सुप्रसिद्धो, रत्नत्रय-धारिणां मुनिवराणाम्।।

अर्थात् कोई पुरुष **शंका** करता है कि रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ मुनियों के समस्त जन-समूह में भलीभाँति प्रसिद्ध देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बन्ध, पूर्वोक्त प्रकार से कैसे सिद्ध होगा?

इसका **समाधान** आचार्य भगवन्त अगले श्लोक में करते हैं –

रत्नत्रय-हेतु-र्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं, शुभोपयोगोऽयमपराधः।।

अर्थात् इस लोक में रत्नत्रयरूप धर्म, निर्वाण का ही हेतु/कारण होता है, अन्य गति आदि का नहीं और **जो रत्नत्रय के साथ पुण्य का आस्रव होता है, सो यह अपराध शुभोपयोग का ही है।**

भावार्थ यह है कि 'कारण भिन्न तो कार्य भिन्न'– इस अटल जैन न्याय को समझनेवाले अब समझ गये होंगे कि क्षयोपशमिक चारित्र क्या चीज है? उसे मिश्रभाव क्यों कहा है?

वस्तुतः गुणस्थानों के अनुसार मुनिजनों के जहाँ भेदाभेदरूप रत्नत्रय की आराधना होती है, वहाँ उनके अट्ठाईस मूलगुणों के पालनेरूप भेद-रत्नत्रय अर्थात् शुभोपयोग का भी अनुष्ठान होता है, यही शुभोपयोगरूप सराग-चारित्रांश, देवायु-प्रमुख पुण्य-प्रकृति-बन्ध का कारण है अर्थात् इस पुण्य-प्रकृति-बन्ध में एक मात्र भेद-रत्नत्रयरूप शुभोपयोग का ही अपराध है, अभेद (निश्चय) रत्नत्रय का नहीं।

सारांश यह निकला कि निश्चय-रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) पुण्य-प्रकृतियों के बन्ध का भी कारण नहीं है, यह तो एकमात्र संवर-निर्जरास्वरूप ही है, प्रगट वीतराग निर्मल पर्यायांशरूप ही है। **सराग-चारित्र तो चारित्र-मोह के देशघाती-स्पर्द्धकों के उदय से होनेवाला महामन्द प्रशस्त रागरूप भाव है; वह चारित्र का मल है, उसे छूटता न जानकर ज्ञानी मुनिराज उसका त्याग नहीं करते, सावद्य-योग का ही त्याग करते हैं, परन्तु इस सरागभाव में संवर-निर्जरा के भ्रम से प्रशस्त रागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धान नहीं करते।**

फिर **प्रश्न (शंका)** है कि रत्नत्रय को पुण्यबन्ध का कारण कैसे कहा है? उसका **समाधान** करते हुए कहते हैं –

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा, व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढ़िमितः ।।

अर्थात् निश्चय से एक वस्तु में अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के भी मेल से वैसा ही व्यवहार, रूढ़िवशात् प्राप्त होता है। जैसे, इस लोक में 'घी जलाता है', इस प्रकार *कहावत प्रसिद्ध है।*

भावार्थ यह है कि जैसे – अग्नि, दहनरूप कार्य में कारण है और घृत, अदहनरूप कार्य में कारण है, परन्तु जब इन दोनों अत्यन्त विरोधी कारणों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, तब कहा जाता है कि 'इस पुरुष को घृत ने जला दिया।' इसी प्रकार शुभोपयोग, पुण्यबन्धरूप कार्य में कारण है और रत्नत्रय मोक्षरूप कार्य में कारण है, परन्तु जब क्षायोपशमिक चारित्र के रूप में (गुणस्थान की आरोहण-परिपाटी में) दोनों एकत्र होते हैं, तब लोक-व्यवहारवत् उपचार से यह *कहा जाता है कि रत्नत्रय से बन्ध हुआ।*

यदि यथार्थ में रत्नत्रय को ही बन्ध का कारण मान लिया जाएगा, तब फिर

मोक्ष के कारण का अभाव होने से मोक्ष का ही अभाव हो जाएगा; अतः इस प्रकरण के निष्कर्ष के रूप में आचार्य अमृतचन्द्रदेव स्वयं लिखते हैं –

सम्यक्त्व-बोध-चारित्र-लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः, प्रापयति परं पदं पुरुषम्।।

अर्थात् इस प्रकार यह पूर्वकथित निश्चय और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र लक्षणवाला मोक्ष का मार्ग, आत्मा को परमात्मपद प्राप्त करा देता है।

भावार्थ यह है कि अष्टांग-विध सम्यग्दर्शन, अष्टांग-विध सम्यग्ज्ञान और मुनियों के महाव्रतरूप आचरण सहित त्रयोदशांग-विध सम्यक्चारित्र को व्यवहार-रत्नत्रय कहते हैं तथा अपने आत्मतत्त्व का परिज्ञान (श्रद्धान-ज्ञान) और उसी में निश्चल (लीन) होने को निश्चय-रत्नत्रय कहते हैं।

यह दोनों प्रकार का रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है; जिसमें से निश्चय-रत्नत्रय, साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार-रत्नत्रय, परम्परा मोक्षमार्ग है। पथिक के उस मार्ग को, जिससे कि यह अपने अभीष्ट देश को क्रम से स्थान-स्थान पर ठहर कर पहुँचता है, परम्परा मार्ग कहते हैं और जिससे अन्य किसी स्थान में ठहरे बिना ही सीधा इष्ट देश को पहुँचता है, उसे साक्षात् मार्ग कहते हैं।

व्यवहार-रत्नत्रय अर्थात् सराग-चर्यारूप चारित्र, पुण्यबन्ध का कारण है, अपराध है; अतः हेय है तथा निश्चय-रत्नत्रय अर्थात् वीतराग-चारित्र, संवर-निर्जरा का कारण है, शुद्धभाव है; अतः उपादेय है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्र के उक्त श्लोकों में प. पू. श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सतर्क व्याख्या द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी कि जिस शुभभाव से तीर्थंकर नामकर्म नामक महा-पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है, वह भाव भी अपराध है अर्थात् रागभाव का होना, वह आत्मा की भाव-हिंसा है; इससे श्रद्धा के धरातल पर यह बात यथार्थ ही है कि जीव के वे सब भाव (मोह-जन्य परिणाम) जिनसे कर्मास्रव-बन्ध होता है, हेय ही हैं; क्योंकि वे अपने शुद्धभावों के घातक है।

आत्मोन्नति के इस मार्ग में सर्वप्रथम गृहीत मिथ्यात्व का जाना (त्याग) होता है, अशुभभावों का आना रूकता है और शुभभावों का आना प्रारम्भ होता है। पश्चात् करणलब्धि पूर्वक स्वात्मोन्मुखी उपयोग की दशा में सम्यग्दर्शन प्रगट होता

है, शुद्धभावों का अंकुरण होना होता है और क्रमापतित सरागचारित्र के ग्रहणपूर्वक स्वरूप-स्थिरतारूप शुद्धभावों की वृद्धि होते-होते (स्वरूप-अस्थिरतारूप सरागचारित्र के शुभपरिणाम गौण होते-होते) पूर्ण शुद्धता प्रगट हो जाती है, अशुद्धता का सर्वथा अभाव हो जाता है। मुक्ति के मार्ग की यही प्रक्रिया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के शब्दों में –

'इसलिए बहुत क्या कहें ? ... जिस प्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, जिस प्रकार रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है तथा जिस प्रकार रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है – ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।'

... तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि जानने में क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा – ऐसा विचार कर, व्रत-तप आदि क्रिया ही के उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते, सो तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होने पर (प्रारम्भ में) कुछ भी व्रतादिक नहीं है, तथापि असंयत सम्यग्दृष्टि नाम पाता है; इसलिए पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करना, पश्चात् कषाय हटाने के लिए बाह्य साधन करना। .....**क्योंकि सम्यग्दर्शन की भूमिका के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते।'**

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 213)

सम्यग्दृष्टि, जो भी व्रत-नियमरूप प्रतिज्ञा करते हैं, सो तत्त्वज्ञानपूर्वक ही करते हैं। ज्ञानी का प्रयोजन वीतरागभाव है, अत: सर्व विचार कर, जैसे वीतरागभाव बहुत हो, वैसा करें, क्योंकि मूलधर्म वीतरागभाव है। प्रवचनसार में आत्मज्ञानशून्य संयमभाव को अकार्यकारी कहा है; इसलिए सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है। **संसार-परिभ्रमण का मूल मिथ्यात्व (अतत्त्व-श्रद्धान) ही है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है। परद्रव्य-परभावों से भिन्न निज-शुद्धात्मा का अनुभव, सच्चा मोक्षमार्ग है, निश्चय-मोक्षमार्ग है तथा (बाह्य) व्रत-तप आदि मोक्षमार्ग है नहीं, निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं, इसलिए इन्हें व्यवहार कहा है।** भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपने से इनको निश्चय-व्यवहार कहा है, सो ऐसा ही मानना चाहिए, परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनों को उपादेय मानना, तो मिथ्या(भ्रम)बुद्धि ही है।

अब यदि कोई निर्विचारी पुरुष, ऐसी मिथ्या धारणा बना ले कि व्रत-शील-संयमरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है तो फिर हम यह व्यवहार-व्रतादिक किसलिए पालें? सबको छोड़ देवें! तब तो वहाँ हिंसादि अव्रतरूप प्रवर्तने से उसका बहुत ही बुरा होगा, क्योंकि वहाँ अशुभ पापरूप प्रवर्तने से तो मोक्षभार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं होगा।

व्यवहार-मोक्षमार्ग (सराग-चारित्र) निश्चय-मोक्षमार्ग (वीतराग-चारित्र) का सहकारी निमित्त है, इसलिए उसे उपचार से मोक्षमार्ग संज्ञा है।

वस्तुतः अणुव्रत-महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र अंगीकार करने पर ही देशचारित्र-सकलचारित्र प्रगट होता है; इसलिए इन व्रतों को अन्वयरूप कारण जान कर, कारण में कार्य का उपचार करके इनको चारित्र या मोक्षमार्ग कहा है। हाँ, यह आवश्यक नहीं है कि व्यवहार-चारित्र ग्रहण किया है तो निश्चय-चारित्र प्रगट हो ही जायेगा, किन्तु जब भी प्रगटेगा, इसके होने पर ही प्रगटेगा, अन्यथा नहीं।

यही कारण है कि श्री सिद्धचक्र महामण्डल पूजन-विधान की जयमाला में यह छन्द लिखा है –

भावलिंग बिन कर्म खिपाई, द्रव्यलिंग बिन शिवपद जाई।
यों अयोग कारज नहीं होई, तुम गुण-कथन कठिन है सोई।।

अर्थात् हे भगवन् ! द्रव्यलिंग (धारण किये) बिना कोई मोक्ष चला जाए और भावलिंग (प्रगट हुए) बिना कर्मों का नाश हो जाए – यह बात जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार आपके गुणों का कथन कर पाना भी कठिन है।

इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि मोक्ष-प्राप्ति के लिए दोनों ही लिंग अनिवार्यरूप से कार्यकारी हैं, एक निमित्त है तो दूसरा उपादान। एक उपयोगी है तो दूसरा उपादेय; तथापि सरागता हेय है, वीतरागता उपादेय है।

इस प्रकार यद्यपि मोक्षमार्ग में अट्ठाईस मूलगुणों के पालन करने रूप भेद-रत्नत्रय अर्थात् शुभोपयोग का भी अनुष्ठान होता है, यही शुभोपयोगरूप सराग-चारित्रांश, देवायु-प्रमुख पुण्य-प्रकृति के बन्ध का कारण है; तथापि हमें यह भी जानना चाहिए कि वस्तु का स्वभाव क्या है? क्योंकि जब तक हम वस्तु के स्वभाव से भलीभाँति परिचित नहीं होंगे तो हमारा सारा श्रम निरर्थक हो जाएगा, जैसा कि आज तक निरर्थक होता रहा है।

जैनदर्शन के समस्त सिद्धान्त, वस्तु-निष्ठ-विज्ञान-आधारित हैं। सर्व जीवों का एकमात्र प्रयोजन सुख की प्राप्ति करना है, दुःखों से छूटना है। सभी सुखी होने के लिए दिन-रात कोई न कोई कार्य करने में लगे ही रहते हैं। यहाँ तक कि कोई उन्हें समझाये कि प्रथम सुखस्वभावी पदार्थ की खोज करो तो वे कहते हैं -

'भैया! हमें तो अभी मरने की भी फुर्सत नहीं है और आप कहते हैं कि स्वाध्याय करो, प्रभु भक्ति करो, आत्म-ध्यान करो, अन्याय-अनीति-अभक्ष्य का त्याग करो। लेकिन हमें तो बिना धन-प्राप्ति के कहीं भी सुख नहीं दिखायी देता। यद्यपि हम प्रतिदिन मन्दिर जाते हैं, दर्शन-पूजन भी करते हैं, तथापि कर्म पीछा नहीं छोड़ते।'

इसका जवाब यह है कि आप अपने मन की व्यथा प्रतिदिन भगवान को सुनाने जाते हो, लेकिन तुम्हारी प्रार्थना भगवान सुनते हैं या नहीं? या तो तुम मात्र सुनाये ही जाते हो - इस आशा से कि कभी न कभी भगवान मेरी भी सुन लेगा। अरे! आप भगवान की भी तो सुनो कि वे क्या कहते हैं?

भगवान ने सभी जीवों को सुखी होने का एक मात्र उपाय **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः** - यह बतलाया है, वह सब चारों अनुयोगों में निबद्ध जिनवाणी में लिखा है। तुम्हें अपनी बुद्धि-प्रमाण जिस भी अनुयोग (प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोग) में मन लगे, उसका एकाग्र-चित्तपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। आप भगवान की तो एक नहीं सुनते और अपना रोना-धोना उन्हें सुनाये चले जाते हो तथा जड़कर्मों को कोसते रहते हो, अरे! उन्हें शुभाशुभभावों को आमन्त्रण दे-दे कर बाँधे तो तुम्हीं ने हैं न?

देखो भाई! तुम्हें सर्वज्ञ-कथित बातों पर विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वे वीतरागी-सर्वज्ञ हैं, त्रिकालज्ञ हैं, वे अन्यथावादी नहीं हैं। वे तो मात्र आपको अपनी मान्यता सही कर लेने की बात कहते हैं, **क्योंकि इस संसार में झूठी/मिथ्या मान्यता जैसी कोई गरीबी नहीं और सच्ची, सम्यक् मान्यता जैसी कोई अमीरी नहीं। जब तुम भगवान की नहीं सुनते, तब वे तुम्हारी क्यों सुनें? वे तुम्हारा व्यवहार नहीं छुड़ाते हैं, बल्कि व्यवहार को निश्चय या परमार्थ मानना छुड़ाते हैं। व्यवहार तो निश्चय का प्रतिपादक या अभिव्यंजक मात्र होता है।**

आप रागी-द्वेषी, अल्पज्ञों, अनात्मज्ञों की एक भी मत सुनो, परन्तु सर्वज्ञ-वाणी, जिनवाणी की सब-कुछ सुनो अथवा जो अपने हितैषी हों, निःस्वार्थ भाव से धर्म के मर्म की बातें सुनायें तो उनकी अवश्य सुनो।

अपनी बुद्धि से विचार करना, न्याय से समझना, अपनी बुद्धि कभी किसी के पास गिरवी मत रखना। व्यवहार-धर्माचरण तो आये बिना रहेगा नहीं और अधर्माचरण जाये बिना रहेगा नहीं।

एक बार जब कहीं बाहर गाँव या तीर्थ-यात्रादि पर जाने का निश्चय, मन में हो जाता है तो तदनुकूल तैयारी भी हम करने लगते हैं। अरे, **जैनधर्म का सेवन तो संसार-नाश के लिए किया जाता है और वह अपने को महाभाग्य से मिल गया है तो फिर देरी किस बात की?**

अपनी शक्ति-प्रमाण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ध्यान में रख कर, जितना बने, उतना संयम भी पालो, जैनदर्शन कभी भी पाप करने की अनुमति तो देता नहीं है, खूब पुण्य-कार्य करो, कौन रोकता है? परन्तु आत्मज्ञान के बिना वे कभी भी कीमती रत्न नहीं बन पाते हैं।

हम व्यर्थ ही परद्रव्यों के कर्ता बने फिरते हैं, वे तो अपने आप अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमते रहते हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने परिणमन के लिए साधनान्तर की अपेक्षा नहीं रखती। (प्रवचनसार, गाथा 98, तत्त्वप्रदीपिका) तथा **'वज्झ-कारण-निरवेक्खो वत्थु-परिणामो'** (जयधवला, 7/117) अर्थात् वस्तु का परिणमन, बाह्य-कारणों से निरपेक्ष होता है, उसके परिणमन में 'उचित बहिरंग-साधनों की सन्निधि का सद्भाव' तो होता ही है। (प्रवचनसार, गाथा 95, तत्त्वप्रदीपिका) कोई भी वस्तु, द्रव्य से द्रव्यान्तर या गुण से गुणान्तर नहीं होती। (समयसार, गाथा 103, आत्मख्याति) स्वयं परिणमती वस्तु को परिणमाने वाला कर्ता बनना ही अनन्त दुःखों को आमन्त्रण देना है।

जीव, पौद्गलिक-कार्मण-वर्गणा को ज्ञानावरणादि कर्मरूप नहीं परिणमाता और पूर्वबद्ध कर्मोदय भी, जीव को विकाररूप नहीं परिणमाते हैं, क्योंकि सर्व द्रव्य, परिणमन स्वभाववाले हैं; इसलिए वे अपने-अपने भाव के स्वयं ही कर्ता हैं।

प्रत्येक द्रव्य की कार्य-सीमा, उसके अपने परिणाम तक ही होती है। कोई

भी द्रव्य, अपने से भिन्न सत्तावाले द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं हो सकता। जो होवे, तो उसे उस अन्य द्रव्यरूप हो जाना पड़ेगा।

'व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, तत्स्वरूप अर्थात् अपने द्रव्य में ही होता है। जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्था विशेष, वह उस व्यापक का व्याप्य है। इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय उसकी व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय, अभेदरूप ही हैं।

जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्व है, वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्व है। जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव होता है, वहीं कर्ता-कर्म भाव होता है। व्याप्य-व्यापक भाव के बिना कर्ता-कर्म भाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है, वह पुद्गल और आत्मा में कर्ता-कर्म भाव नहीं है – ऐसा जानता है।'

(समयसार कलश 49)

जो सांख्यमती, प्रकृति और पुरुष (आत्मा) को सर्वथा अपरिणामी मानते हैं, उन जैसी मान्यता, जिनमतानुयायियों की नहीं होती है। पुद्गलों में कर्मरूप परिणमने की शक्ति एवं जीवों में क्रोधादि विकाररूप या अविकाररूप परिणमने की शक्ति अपनी-अपनी स्वयं से है। मिथ्यात्वादि कर्म का उदय होना, जीव का अपने अतत्त्व-श्रद्धानादि भावरूप स्वयं परिणमना तथा नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना, उनका जीव-प्रदेशों से बँधना – ये तीनों ही कार्य, एक समय में ही होते हैं। सब स्वतन्त्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता। जीव कभी भी जड़कर्मरूप नहीं परिणम सकता और पुद्गलकर्म, कभी जीवरूप नहीं परिणम सकते। हाँ ! जीव-परिणाम का निमित्त पाकर, पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गल-कर्म का निमित्त पाकर जीव भी परिणमित होते हैं।'

इस प्रकार अन्योन्य निमित्त-मात्रता तो है अर्थात् दोनों में निमित्त-नैमित्तिक भाव का निषेध नहीं है, तथापि उनके कर्ता-कर्मपना सर्वथा नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए, उनका कर्ता तो जीव को अज्ञानदशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव, परभाव का कर्ता कदापि नहीं है।

यदि जीव, पुद्गलों को और पुद्गलकर्म, जीव को कर्ता होकर परिणमाते हों तो क्या वे 'नहीं परिणमते हुए' को परिणमाते हैं या 'स्वयं परिणमते हुए' को

परिणमाते हैं? परन्तु नहीं परिणमते हुए' को कोई कैसे परिणमा सकता है ? और स्वयं परिणमते हुए' को अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि **'न हि स्वतोऽसति शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते '** अर्थात् वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई कर नहीं सकता। इसी प्रकार **'न हि वस्तु-शक्तयः परमपेक्षन्ते'** अर्थात् वस्तु की शक्तियाँ, पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

(समयसार गाथा 116 से 125, आत्मख्याति)

जो निमित्त को नहीं मानते, वे जीव तो मिथ्यादृष्टि हैं ही, किन्तु जो निमित्त को कर्ता मानते हैं, वे भी महा मिथ्यादृष्टि हैं। जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही न माना जाए तो संसार और मोक्ष, दोनों के अभाव का प्रसंग आ जाएगा और यदि उनमें व्याप्य-व्यापक भाव से कर्ता-कर्म सम्बन्ध माना जाए तो जड़-चेतन में तन्मयपने का प्रसंग आएगा तथा यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी एक-दूसरे का कर्ता माना जाये तो नित्य-कर्तृत्व का (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आ जाएगा, अतः जीव-पुद्गल, अपने-अपने परिणामों (पर्यायों) के कर्ता सिद्ध हुए।

(देखो, समयसार, गाथा 100, आत्मख्याति)

इस परमार्थ-दृष्टि से निमित्त, उपादान के कार्य में अकिंचित्कर ही सिद्ध होता है।

शंका – 'अकिंचित्कर' शब्द का प्रयोग आप ही कर रहे हैं। अन्यत्र तो जिनागम में कहीं देखा नहीं।

समाधान – आप प्रवचनसार, गाथा 45, 67 एवं 239 की तत्त्व-प्रदीपिका टीका देखें, वहाँ पर क्रमशः **तीर्थंकरों (अरहन्तों) के पुण्य का विपाक को *अकिंचित्कर कहा है;*** *(गाथा 45 की उत्थानिका)* ***आत्मा, स्वयं सुख-परिणाम की*** **शक्ति वाला होने से विषयों को अकिंचित्कर कहा है** (गाथा 67 की उत्थानिका) **आत्मज्ञान-शून्य व्यवहार रत्नत्रय के यौगपद्य को भी अकिंचित्कर कहा है।** (गाथा 239 की उत्थानिका)

शिवाकांक्षी

– ब्र. हेमचन्द्र जैन 'हेम' (भोपाल/देवलाली)

*****

अष्टम चर्चा

सम्यक् पात्र-अपात्र-कुपात्र चर्चा

जब चित्त में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि **मोक्ष व मोक्षमार्ग के आराधक कौन हैं ? पात्र जीव कौन हैं ? अपात्र कौन हैं ? कुपात्र कौन हैं ?** आदि।

बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा), गाथा 17-18

प. पू. आ. श्रीमद् कुन्दकुन्ददेव ने यही बात कही है –

उत्तम-पत्तं भणियं, समत्त-गुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिम-पत्तो त्ति विण्णेयो।।
णिद्दिट्ठो जिण-समये, अविरद-सम्मो जहण्ण-पत्तोत्ति।
सम्मत-रयण-रहिओ, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन से सहित साधु को उत्तम पात्र कहा है; सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र समझना चाहिए तथा जिनागम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित हैं, वे अपात्र हैं; अतः पात्र की भली-भाँति परीक्षा करनी चाहिए।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 171

इस सम्बन्ध में श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी कहा है –

पात्रं त्रि-भेदमुक्तं, संयोगो मोक्ष-कारण-गुणानाम्।
अविरत-सम्यग्दृष्टिः, विरताविरतश्च सकल-विरतश्च।।

अर्थात् मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप गुणों का संयोग जिसमें हो, ऐसा पात्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक और सकलव्रती-महाव्रती मुनिराज – इन तीन भेदरूप कहा है।

भावार्थ यह है कि जो दान लेनेवाले पुरुष, रत्नत्रय-युक्त होवें, वे पात्र कहलाते हैं; उनके तीन भेद हैं – उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र। इनमें सकलचारित्र के धारण करनेवाले सम्यक्त्व-युक्त मुनि उत्तम पात्र हैं, देशचारित्र-युक्त त्रसजीवों की हिंसा के त्यागी श्रावक मध्यम पात्र हैं और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं।

समीक्षा – जैनधर्म में सम्यग्दर्शन के बिना कोई सुपात्र नहीं होता। सम्यक्त्व, शील और व्रत से रहित जीव, अपात्र कहा गया है। जो व्रत, तप और शील से सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है, वह कुपात्र है। महाव्रत- धारी साधु भी यदि मिथ्यादृष्टि है तो वह कुपात्र है, पात्र नहीं।

वास्तव में पात्रता का आधार सम्यक्त्व ही है। सम्यग्दर्शन रत्न से विभूषित होने पर जीव, रत्नत्रय से अलंकृत हो जाता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्गी तथा पात्र माना गया है।

व्रती जीव, जो भी त्याग व आचरण करता है, वह सब चरणानुयोग की पद्धति से करता है, उसमें जो भी इन्द्रिय-संयम एवं प्राणी-संयम का पालना होता है, वह सर्व चरणानुयोगानुसार एवं लोक-प्रवृत्ति के अनुसार ही होता है, उसमें करणानुयोग व द्रव्यानुयोग की विवक्षा अभीष्ट नहीं है; अतः दान-दाता को पात्र-अपात्र की परीक्षा करते समय, व्यवहार-रत्नत्रय की मुख्यता से ही सुपात्र या कुपात्र व्रती जीव की पहिचान करनी चाहिए अर्थात् जिसके जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु, हिंसा-रहित धर्म का श्रद्धान पाया जाए; उसे सम्यक्त्वी और जिसके उनका (देव-शास्त्र-गुरु का) श्रद्धान नहीं है; उसे मिथ्यात्वी जानना चाहिए, क्योंकि दान देना, धर्मी श्रावक का परम कर्तव्य है; इसलिए उसे चरणानुयोग-कथित सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण कर, स्व-विवेक से निर्णय कर, दान देना चाहिए।

अन्यथा करणानुयोग की अपेक्षा से जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान में था, वही अन्तर्मुहूर्त में प्रथम गुणस्थान में आ जाए तो दातार, पात्र-अपात्र का निर्णय कैसे करे? तथा जो द्रव्यानुयोगापेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करें तो मुनिसंघों में द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं, सो प्रथम तो उसका ठीक (अच्छी तरह) निर्णय होना कठिन है, क्योंकि उनकी बाह्य-प्रवृत्ति समान होती है।

वस्तुतः द्रव्यलिंगी मुनि के स्थूल अन्यथापना नहीं होता, सूक्ष्म अन्यथापना होता है, वह सम्यग्दृष्टि को भासित होता है। उसका सूक्ष्म अन्यथापना क्या है? इसका तात्त्विक विश्लेषण आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में व्यवहारभासी के 'सम्यक्चारित्र का अन्यथारूप' प्रकरण में पृ. 245 से 247 पर विस्तार से किया है, वहाँ से जान लेना चाहिए तथा आठवें अध्याय में पृष्ठ 274 पर उन्होंने यह भी लिखा है –

'जो सम्यक्त्व-रहित मुनिलिंग धारण करें व द्रव्य से भी कोई अतिचार लगाता हो (तो भी उपचार से) उसे मुनि कहते हैं; सो मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होने पर होता है, परन्तु पूर्ववत् उपचार से उसे मुनि कहा (जाता) है। समवसरण में मुनियों की संख्या कही, वहाँ सर्व मुनि शुद्ध भावलिंगी नहीं थे, परन्तु मुनिलिंग धारण करने से सभी को मुनि कहा। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।'

पुनः वे **आठवें अध्याय, पृष्ठ 283** पर इस प्रश्न का समाधान करते हैं –

'शंका – सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे?

समाधान – व्यवहारधर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है और उसकी भक्ति करना भी व्यवहार ही है; इसलिए जैसे कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो, उसे कुल अपेक्षा बड़ा जान कर उसका सत्कार करता है, उसी प्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहार-धर्म में प्रधान हो, उसे व्यवहार-धर्म की अपेक्षा गुणाधिक मान कर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना। इसी प्रकार जो जीव, बहुत उपवासादि करे, उसे तपस्वी कहते हैं। यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है, वह उत्कृष्ट तपस्वी कहलाता है, तथापि यहाँ चरणानुयोग में बाह्य तप की प्रधानता है, इसलिए उसे तपस्वी कहते हैं। इसप्रकार अन्य नामादिक जानना।'

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि द्रव्यलिंगी मुनि, सम्यक्त्व न होने की अपेक्षा तो कुपात्र ही है, तथापि चरणानुयोगापेक्षा उसे सुपात्र में ही गिना जाएगा, क्योंकि वह व्यवहार-संयमरूप रत्नत्रयधारी है और वह कभी भी शुद्धात्माभिमुख-

परिणामरूप पुरुषार्थ जागृत कर, सीधे सप्तम गुणस्थान की निर्विकल्प अप्रमत्त शुद्धोपयोगदशा को प्राप्त कर सकता है और भावलिंग प्रगट कर सकता है।

परमागम में **आहार-दान** को वैयावृत्त्य (अपरनाम – अतिथिसंविभागव्रत) नामक श्रावकों के शिक्षाव्रत में अर्न्तगर्भित किया है। भोजन करना तो उसी गृहस्थ का सफल है, जो आहारदान पूर्वक भोजन करता है। अपना-अपना पेट तो पशु भी भर लेते हैं। जिसके घर में पात्रदान होता है, उसी का गृहस्थपना सफल है।

उत्तम पात्र को दान देने से उत्तम भोगभूमि, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि मिलती है और अपात्र को दान देने से नरकादि गति की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार पूज्यता-अपूज्यता की अपेक्षा विचार करें तो हमें दर्शनपाहुड, गाथा 2 एवं 26 से समाधान कर लेना चाहिए –

'दंसणहीणो ण वंदिव्वो'

अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित वन्दनीय नहीं है।

असंजदं ण वंदे, वच्छविहीणो वि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा, एगो वि ण संजदो होदि।।

अर्थात् असंयमी तथा वस्त्रविहीन, **भाव-संयम-रहित द्रव्यलिंगी साधु** भी वंद्य नहीं है, क्योंकि दोनों ही संयम-रहित होने से समान हैं।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे – बाह्य भेष शुद्ध हो और आचार निर्दोष पालन करनेवाले को अभ्यन्तर भाव में कपट हो, उसका निश्चय कैसे हो? तथा सूक्ष्मभाव तो केवली-गम्य हैं, मिथ्यात्व हो, उसका निश्चय कैसे हो? निश्चय बिना वन्दने की क्या रीति है?

उसका **समाधान** – ऐसे कपट का जब तक निश्चय नहीं हो, तब तक **आचार शुद्ध देख कर वन्दना करें,** उसमें दोष नहीं है और कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाए, तब वन्दना नहीं करे। यहाँ केवली-गम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है, छद्मस्थ के ज्ञान-गम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का

विषय ही नहीं, उसका बाध-निर्बाध करने का व्यवहार नहीं है। सर्वज्ञ भगवान की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव को व्यवहार का ही शरण है।

(पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत इसी गाथा की टीका/भावार्थ से)

प. पू. अमितगति आचार्य ने **योगसार 5/56** में कहा है –

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति, स पूज्यो व्यवहारिभिः।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ, पूज्यो मोक्षं यियासुभिः।।

अर्थात् व्यवहारीजनों के लिए द्रव्यलिंगी भी पूज्य है, परन्तु जो मोक्ष के इच्छुक हैं, उन्हें तो *भावलिंगी ही पूज्य हैं।*

सारांश यह है कि **धर्ममार्ग में तो पूज्यता संयम से ही आती है।** भले ही लोकमार्ग में माता-पिता, दीक्षागुरु-शिक्षागुरु एवं राजा और मंत्री आदि असंयतजन भी 'पूज्य' शब्द से व्यवहृत किये जाते हों।

यद्यपि व्यवहार व्रत-संयम ग्रहण न किया होने से अविरत सम्यग्दृष्टि, जघन्य पात्र होने पर भी पूज्यता को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि मोक्षमार्ग में पूज्यता संयम धारण करने से मानी गयी है; तथापि जैसे लोक में अपने जन्मदाता माता-पिता एवं शिक्षागुरु आदि को पूज्य माना जाता है, उसी तरह अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गस्थ होने से यथायोग्य पूज्यपने के व्यवहार को प्राप्त होता है।

वहाँ पर सम्यक्त्व की महिमा दर्शाना ही अभीष्ट है; इसीलिए प.पू.समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में कर्णधार (खेवटिया) सिद्ध कर उसकी महिमा में ग्यारह श्लोक लिखे हैं, क्योंकि उस सम्यग्दर्शन ही के कारण ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और चारित्र, सम्यक्चारित्र नाम पाता है, अन्यथा वे (ज्ञान-चारित्र), सम्यक्त्व के अभाव में मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र कहलाते हैं। यहाँ पर सम्यक्त्व-महिमा सूचक **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** के दो श्लोक उद्घृत कर रहा हूँ–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।

अर्थात् **जिसे मिथ्यात्व (दर्शनमोह) नहीं है – ऐसा निर्मोही गृहस्थ, मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोही अनगार अर्थात् मोहसहित गृहरहित मुनि, मोक्षमार्गी नहीं**

है। इसी कारण मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ उत्कृष्ट बताया गया है।

भावार्थ यह है कि जिसके मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं है – ऐसा अव्रत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है तथा वह सात-आठ भव, देव-मनुष्य के ग्रहण करके नियम से मोक्ष जाएगा।

न सम्यक्त्व समं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभूताम्।।

अर्थात् संसारी जीवों का सम्यग्दर्शन के समान तीनों काल और तीन लोक में अन्य कोई कल्याण करनेवाला नहीं है तथा उनका मिथ्यात्व के समान तीन काल और तीन लोक में अन्य कोई अकल्याण करनेवाला नहीं है।

भावार्थ यह है कि इस जीव का निकृष्टतम अपकार जैसा मिथ्यात्व करता है, वैसा अपकार करनेवाला, तीन लोक और तीन काल में कोई चेतन या अचेतनद्रव्य न है, न हुआ है, नहीं न होगा।

विवेकी सम्यग्दृष्टि जीव, गृहस्थाचार में रहता हुआ भी सदैव संसार-शरीर-भोगों से विरक्त ही रहता है तथा उसके अशुभरूप विषय-कषायों से बचने हेतु *यथाशक्ति अणुव्रत-महाव्रतरूप सरागचारित्र को भी ग्रहण करने की भावना-*अभ्यासरूप उद्यम वर्तता ही रहता है, क्योंकि उसे पता है कि **'पूर्णता के लक्ष से की गयी शुरुआत ही वास्तविक (सच्ची-यथार्थ) शुरुआत है।'**

शिवाकांक्षी

– ब्र. हेमचन्द्र जैन 'हेम' (भोपाल)

*****

नवम चर्चा

अकषाय भाव ही सच्चा धर्म

आठ कर्मों में सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है, उसे कर्मों की सेना का सेनापति कहा जाता है। वही संसार की जड़ है। जब तक उस पर प्रहार नहीं होता, तब तक सब धर्म-कर्म निष्फल होता है।

मोहनीय कर्म के मुख्य भेद दो हैं - दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय का मौलिक भेद तो एक मिथ्यात्व ही है और चारित्र-मोहनीय के मुख्य भेद हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ; इनमें से प्रत्येक की चार-चार जातियाँ है - अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन।

अनन्तानुबन्धी, चारित्रमोह का भेद होकर भी उभयघाती है। यह सम्यक्त्व को भी घातती है और चारित्र को भी घातती है, इसका मिथ्यात्व के साथ गहरा गठ-बन्धन है, यह उसी के साथ जाती है। मिथ्यात्व जाये और अनन्तानुबन्धी न जाये - यह सम्भव नहीं।

इन्हीं के उपशम होने पर अनादि मिथ्यादृष्टि को एक अन्तर्मुहूर्त के लिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और उसके प्राप्त होते ही जीव का अनन्त संसार सान्त हो जाता है।

यद्यपि सम्यक्त्व चला जाता है, किन्तु संसार सान्त ही बना रहता है, उस जीव की मुक्ति सुनिश्चित है। अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन काल से अधिक वह संसार में नहीं रहता।

इसी से आगम में कहा है कि 'जब जीव के संसार-भ्रमण का काल अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन शेष रहता है, तब उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, इसे ही 'काल-लब्धि' कहा है; अतः कषायों से छूटने के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व से छूटना जरूरी है; क्योंकि मिथ्यात्व के हटे बिना अनन्तानुबन्धी नहीं जा सकती और अनन्तानुबन्धी के हटे बिना अप्रत्याख्यानावरण; अप्रत्याख्यानावरण के हटे बिना

प्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के हटे बिना संज्वलन कषाय का विनाश सम्भव नहीं है।

इसी से एकीभाव-स्तोत्र में वादिराज स्वामी ने कहा है –

मुक्ति-द्वारं परि-दृढं महा-मोह-मुद्रांक-वाटकम्।

अर्थात् मुक्ति के द्वार पर अत्यन्त दृढ़ महा-मोह के मुद्रा-सील से मुद्रित कपाट लगे हुए हैं। जब तक यह परिदृढ़ महा-मोह-मुद्रा नहीं टूटेगी, मुक्ति का द्वार बन्द ही रहेगा।

जो उसकी चिन्ता न करके कठोर संयम धारण करते हैं, अनेक प्रकार के काय-क्लेश उठाते हैं, वे पहाड़ से व्यर्थ ही सिर फोड़ते हैं। तत्त्व-परिज्ञान और श्रद्धान के बिना लाख चारित्र धारण करने पर भी उस महा-मोह का बाल भी बाँका होनेवाला नहीं है। यह महामोह मिथ्यात्व ही है, दूसरा कोई नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्रजी की टीका में मोह का लक्षण – **तत्त्वाऽप्रतिपत्ति** या तत्त्व के स्वरूप को न जानना कहा है। ठीक भी है, जब तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व है तो मिथ्यात्व का लक्षण तत्त्व का अज्ञान, अश्रद्धा ही होना चाहिए।

किन्तु तत्त्व तो सात हैं और उसके मूल में हैं – जीव और अजीव; इन दोनों के मेल से सात तत्त्व बने हैं; अतः सात तत्त्वों को समझने के लिए जीव और अजीव के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने श्रावकाचार को नाम दिया है – '**पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय**' अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय। इसका प्रथम शब्द है 'पुरुष'; अतः सर्वप्रथम पुरुष का स्वरूप बताते हुए वे लिखते हैं –

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा, विवर्जितः स्पर्श-गन्ध-रस-वर्णैः।
गुण-पर्यय-समवेतः समाहितः समुदय-व्यय-ध्रौव्यैः।।9।।

अर्थात् 'पुरुष अर्थात् आत्मा, चैतन्यस्वरूप है; वह स्पर्श-रस-गन्ध-रूप से रहित है, गुण और पर्यायसहित और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।

इसके द्वारा उन्होंने आत्मद्रव्य के स्वरूप का वर्णन किया है। पुद्गल, रूप-रस-गन्ध-वर्ण-स्पर्शयुक्त होता है; पुरुष उनसे रहित है, चैतन्य-स्वरूप है।

आगे वे पुरुष के संसारी रूप का चित्रण करते हुए बताते हैं कि वह कैसे संसारी बना हुआ है? वे लिखते हैं – वह चैतन्य-स्वरूप आत्मा, अनादि-परम्परा से निरन्तर ज्ञानादि गुणों के विकाररूप रागादि-परिणामों से परिणमन करता हुआ, अपने रागादि परिणामों का कर्ता-भोक्ता होता है।

जब जीव, राग-द्वेष-मोहरूप परिणमता है, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप धारण करता है। इसी प्रकार जीव भी अपने चेतना-स्वरूप रागादि-परिणामों से स्वयं परिणमन करता है, तब पौदगलिक कर्म उसके निमित्तमात्र होते हैं। इस पुद्गल-कर्म में निमित्त मात्र रागादि-भाव हैं और रागादि-भाव में निमित्त पौद्गलिक-कर्म हैं। दोनों में मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है – ऐसा होते हुए भी आत्मा, अपने स्वभाव की अपेक्षा कर्म-निमित्तक भावों से जुदा चैतन्य मात्र वस्तु है।

इस प्रकार के आत्मस्वरूप की श्रद्धा होने पर ही मिथ्यात्व हट कर, सम्यक्त्व प्रकट होता है, तभी मुक्ति का द्वार खुलता है और कषायों में मन्दता आना आरम्भ होता है।

ज्यों-ज्यों कषायों में क्षीणता आती जाती है, त्यों-त्यों आत्मस्वरूप की प्रतीति/अनुभूति होती जाती है और ज्यों-ज्यों आत्मस्वरूप की अनुभूति होती जाती है, त्यों-त्यों कषाय की मन्दता होती जाती है।

आत्मा की शुद्ध स्वरूपोपलब्धि का नाम मोक्ष है और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। इसी से निश्चयनय से आत्मस्वरूप के विनिश्चय को सम्यग्दर्शन, आत्मा के परिज्ञान को सम्यग्ज्ञान और आत्मा में स्थिति को सम्यक्चारित्र कहा है। यह निश्चय मोक्षमार्ग, चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ होता है। आचार्य जयसेन ने समयसार की टीका में लिखा है –

'यदा काल-लब्धिवशेन भव्यत्व-शक्तिर्व्यक्तिर्भवति......शुद्धोपयोग इति पर्याय-संज्ञा लभते।

अर्थात् जब काललब्धिवश भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव जिसका लक्षण है, उस अपने परमात्मद्रव्य के

सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् अनुचरणरूप पर्याय से परिणमन करता है। उस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव कहते हैं, किन्तु अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि पर्याय नाम उसके हैं।' (समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 320)

आगम और अध्यात्म के समन्वय को लिए हुए उक्त कथन इतना सुस्पष्ट है कि उसमें किसी प्रकार के सन्देह को कोई स्थान ही नहीं रहता; अतः जो विज्ञजन, सम्यक्त्व के विषय में आगम-विपरीत कल्पनाएँ करते हैं, वे वस्तुतः विज्ञ नहीं हैं। सात तत्त्वों की मोटी (स्थूल) श्रद्धारूप व्यवहार-सम्यक्त्व तो नकली है, उससे अनन्त संसार सान्त नहीं होता, वह तो अभव्य के भी होता है।

जिस आत्मज्ञान के बिना निर्दोष, निरतिचार द्रव्यलिंग का धारी भी मुनि ग्रैवेयक पर्यन्त ही जाता है, वही आत्मज्ञान सम्यक्त्व का प्राण है, उससे विहीन सम्यक्त्व नहीं है, मिथ्यात्व ही है। ऐसे सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव ही वास्तव में चारित्र धारण करने का पात्र होता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है –

मोह-तिमिराऽपहरणे, दर्शन-लाभादवाप्त-संज्ञानः।
राग-द्वेष-निर्वृत्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

अर्थात् मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से सम्यग्ज्ञान को प्राप्त साधु, राग-द्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को धारण करता है।

अध्यात्म में क्रोध-मान-माया-लोभ को राग-द्वेष कहते हैं और मिथ्यात्व को मोह कहते हैं। जिसका मिथ्यात्वरूप मोह दूर हो जाता है, वही राग-द्वेष दूर करने के लिए चारित्र-धारण करने का अधिकारी होता है।

एक शिक्षण शिविर में उसके अधिष्ठाता विद्वान् को उक्त श्लोक का उत्तरार्ध ही पढ़ते हुए सुनकर मुझे साश्चर्य खेद हुआ। आज चारित्र के प्रेमी चारित्र की बात तो करते हैं, किन्तु उसकी जड़ सम्यक्त्व की चर्चा से कतराते हैं।

जब जड़ (मूल) में अनन्तानुबन्धी कषाय बैठी हुई है, तब आगे की कषाय मात्र ऊपरी चारित्र धारण कर लेने से कैसे दूर या मन्द हो सकती है? उसी का यह

परिणाम है कि कषाय और चारित्र का गठबन्धन देखने में आता है। ऐसे चारित्र का फल द्वारका नगरी का विनाश था।

दशलक्षण पर्व के प्रथम चार धर्म – उत्तम-क्षमा, उत्तम-मार्दव, उत्तम-आर्जव और उत्तम-शौच; क्रोध, मान, माया, लोभ के दूर होने पर या मन्द होने पर प्रगट होते हैं।

मानव के व्यावहारिक जीवन के लिए ये चारों अत्यन्त उपयोगी हैं। अति-क्रोध, अति-मान, अति-माया और अति-लोभ, मानव-जीवन को कलुषित कर देते हैं। मनुष्य और परिवार की सुख-शान्ति को नष्ट कर देते हैं। आत्म-हत्याएँ, उन्हीं का फल हैं।

मनुष्यों के अति-लोभ ने आज मानव-समाज को दुःख के गर्त में डाल दिया है। मनुष्य की तृष्णा, दिन पर दिन बढ़ती जा रही है, वह शान्त नहीं होती। जिनके पास सब तरह के सुख-साधन हैं, उन्हें भी अन्याय से द्रव्य-संचय करते देख कर, खेद और आश्चर्य होता है। आखिर में वे इस अनावश्यक संचय का करेंगे क्या?

इसी वर्ष महावीर-जयन्ती पर मुझे जैनेतर विद्वानों की एक गोष्ठी में भाषण करने का प्रसंग उपस्थित हुआ। भगवान महावीर के सिद्धान्तों में आज के युग के अनुरूप व्यावहारिक सिद्धान्त अपरिग्रहवाद है।

आज की स्थिति में अहिंसा और अपरिग्रह – ये दो सिद्धान्त विश्व-शान्ति में सहायक हो सकते हैं, क्योंकि आज विश्व में हिंसा और परिग्रह के कारण ही विशेष अशान्ति है। भारत में भी यही स्थिति है; अतः सार्वजनिक भाषणों में अपरिग्रह का ही विवेचन किया जाता है।

मेरे भाषण के पश्चात् प्रश्नोत्तर में एक कम्युनिस्ट विद्वान् जैनों की आलोचना करने लगे। मैंने कहा, 'भाई ! सब धर्मों और उनके पालकों की यही स्थिति है। लोभ को छोड़ना सरल नहीं है।

किन्तु वहाँ उपस्थित अन्य विद्वान भी कहने लगे – 'आपका कहना ठीक है; किन्तु अहिंसा और अपरिग्रह पर जितना जोर आपके धर्म में दिया गया है, उतना अन्य किसी धर्म नें नहीं दिया गया; अतः भगवान महावीर के अनुयायियों से

विशेष आशा की जाती है कि वे भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद को जीवन में अपनाएँगे।'

बात ठीक है, भगवान महावीर ने त्याग का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण जगत् के सामने रखा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में परिग्रह की कितनी निन्दा की है! दश धर्मों में आकिंचन्य धर्म उसी बात को कहता है, किन्तु जैसा प्रारम्भ में कहा है कि 'जब तक मनुष्य का मोह दूर नहीं होता, सच्चा त्याग भाव नहीं आता।'

दशलक्षण पर्व, धार्मिक आचरण और शिक्षण की दृष्टि से बड़े महत्व का पर्व है; इसमें कषायों के त्याग पर विशेष जोर दिया गया है, किन्तु कुछ तो श्रोतागण सुनते-सुनते सुनने के भी अभ्यस्त हो जाते हैं और मात्र सुनने को ही सब-कुछ मान कर निश्चिन्त हो जाते हैं।

सुनने के पश्चात् उस पर गम्भीरता से विचार नहीं करते, इससे शास्त्र-श्रवण का स्थायी लाभ नहीं होता; फिर भी जो सुनने से कतराते हैं, उनसे तो सुननेवाले श्रेष्ठ ही हैं। सुन कर जो संस्कार मन पर पड़ता है, वह कभी न कभी प्रबुद्ध होकर काम भी करता है।

मनुष्य, बुराई को भले ही न छोड़ सके, किन्तु यदि उसके मन में बुराई के प्रति यह भावना पैदा हो जाती है कि बुराई नहीं करना चाहिए, तो यह भी कुछ कम लाभ नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टि, न तो जीव-हिंसा का त्यागी होता है न इन्द्रिय-संयमी अर्थात् असंयमी होता है; फिर भी उसके मानस में असंयम भाव के प्रति एक तीव्र अरुचि जागृत हो जाती है, जो उसकी विषयासक्ति को बन्ध के बदले में निर्जरा का कारण बनाती है; अतः कषायों को घटाने के लिए आत्म-स्वरूप का सतत विचार आवश्यक है, उसके बिना धर्म की सच्ची भावना जागृत नहीं होती।

– **सिद्धान्ताचार्य पण्डित श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री**, वाराणसी

(सन्मति सन्देश, अगस्त–सितम्बर 1980 के लेख से साभार)

ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'

ब्र. हेमचन्द्र जैन 'हेम', मुमुक्षु समाज में एक जाना-पहचाना नाम है। आपके पिता का नाम श्री लक्ष्मणप्रसाद सिंघई एवं माता का नाम श्रीमती मूलाबाई है। 13 जनवरी 1946 (पौष कृष्णा एकादशी, वि.सं. 2002) को रायसेन (म.प्र.) जिले के नई गढिया (बेगमगंज) ग्राम में धार्मिक परिवार में जन्मे ब्र. हेमचन्दजी ने श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर से धार्मिक एवं संस्कृत शिक्षा प्राप्त कर, मैकेनिकल इंजीनियर (D.M.E, D.T.Ed) की परीक्षा 1969 में उत्तीर्ण की और भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड, भोपाल में 1971 से 1997 तक कार्यरत रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी से प्रभावित होकर, आपने 27 मई 1971 को श्री टोडरमल स्मारक भवन में पू. स्वामीजी से ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। पू. गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अतिरिक्त आप पण्डित टोडरमलजी, श्रीमद् राजचन्द्रजी, क्षु. सहजानन्द वर्णी, क्षु. जिनेन्द्र वर्णी से भी प्रभावित रहे। आप पूज्य मुनि श्री वीरसागरजी से 1984 से 1990 तक सम्पर्क में रहे, आपने अनेक दिगम्बर सन्तों के साथ गोष्ठियों व वाचनाओं में भाग लिया। सोनगढ व जयपुर के शिविरों में आप निरन्तर भाग लेते रहे व अपने प्रवचनों के माध्यम से अध्यात्म-जगत् को लाभान्वित करते रहे।

अंग्रेजी भाषा पर आपकी अच्छी पकड होने के कारण आपने लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, धर्म के दशलक्षण, मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रश्नोत्तर-मालिका, जैनधर्म, सामायिक-प्रतिक्रमण और पंच-परमेष्ठी, दिव्यध्वनि-सार, आदि कृतियों के अंग्रेजी अनुवाद किये, जिनके प्रकाशन से समाज लाभान्वित हुई। आपके द्वारा सम्पादित अंग्रेजी ग्रन्थों में द्रव्यसंग्रह, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र आदि मुख्य हैं।

आपने समयसार (दोनों टीकाओं के अनुवाद सहित), लाटी संहिता, ज्ञानानन्द-श्रावकाचार, समाधि-शतक, सामान्य जैनाचार-विचार आदि का सम्पादन भी किया है। आपकी छह महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन, अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा किया जा रहा है; इनमें से सम्यक्त्व चर्चा, क्षयोपशम भाव चर्चा का प्रकाशन तो किया जा चुका है। आगामी प्रकाशनों में पंच भाव चर्चा, ध्यान चर्चा, दृष्टि का विषय चर्चा, जैन न्याय चर्चा, द्रव्यस्वभाव पर्यायस्वभाव चर्चा आदि प्रधान हैं। इन सभी पुस्तकों का संयुक्त बृहदाकार ग्रन्थ 'ज्ञानदीप' भी प्रकाशनाधीन है। आपके द्वारा चार अमेरिकन छात्रों को अंग्रेजी के माध्यम से जैनधर्म का अध्ययन कराया गया।